ॐ

वाक्य सुधा और
योग-रत्नावली

दे. स्वामी-धर्मानन्द जी
बनारस

ाक्यसुधा और योगतारावली

रामावतार विद्याभास्कर

वाक्यसुधा

(भारतीतीर्थ)

और

योगतारावली

(शंकराचार्य)

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार

पं० रामावतार विद्याभास्कर

मिलने का पता—

कृष्णकुमार शर्मा

पो० रतनगढ़, जिला बिजनौर

पहलीवार]   [मूल्य ॥)

ओम्

उपहार का अभिनय

हे अच्युत! हे अनन्त! तुम्हें बार बार प्रणाम हो! जब तक पूरा पूरा प्रणाम न हो चुके तब तक तुम्हें लाखों बार प्रणाम हो। क्योंकि तुम अपने स्वरूप और सामर्थ्य से कभी च्युत होने वाले नहीं हो इसीलिये कुछ देने लेने से तुम्हारा कुछ भी घटता बढ़ता नहीं है। तुम अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक के लिये उपवास किये बैठे हो। वैद्यों का बुभुक्षित पारद जिस प्रकार सोने को खा जाता है, फिर भी उसका भार नहीं बढ़ता है, इसी प्रकार अनादि काल से लेकर अब तक अपनी अनन्त वस्तुओं सहित अनन्त ब्रह्माण्डरूपी भात को तुम मौतरूपी दाल से लगा लगाकर डकार गये हो। वे सब तुम्हारी उददरी में न मालूम कहाँ समा गये हैं। यह धूर्त वर्तमान भी आप के विकराल जबाड़े के अन्दर कुचले जाने की तैयारी में व्यग्र हो रहा है, यह सुदूर भविष्य भी आपके पेट में समा जाने के लिये आतुर होकर चौकड़ी भरता चला आ रहा है, इतने पर भी तुम्हारा उपवास नहीं टूट पाया है, उन सब से तुम में किसी प्रकार की भी वृद्धि नहीं हो पायी है, नहीं हो रही है और आगे को होने वाली भी नहीं है। यों तुम अनन्त को इन सब भेंटों की कुछ भी आवश्यकता तो नहीं है फिर भी न मालूम कौन से लोभ में आकर तुम इस संसार का सभी कुछ—कोई दे या न दे—भेंटरूप में ले लेने को आतुर प्रतीत हो रहे हो। भेंट मिलने से तुम्हें कुछ भी लाभ नहीं होता है। इतना ही नहीं, देनेवालों को भी इन भेंटों से कुछ लाभ नहीं होता है। हम देनेवालों ने—जाने या बे जाने—जो अनन्त भेंटें आज तक दी हैं, उनसे हमें क्या कुछ लाभ हो पाया है? नहीं, नहीं, आज भी हम वैसे ही दीन हीन और रंक बने हुए हैं। फिर हम इस भेंट की

निरर्थक प्रथा को क्यों जारी रक्खें ? कोई भेंट दे या दे जब सब कुछ तुम नें भेंट ले ही लेना है फिर हम भेंट देने की सुघड़ भलाई ही तुमसे क्यों न ले लें ? यों भेंट देने और न देने के बीच में टँग कर तुम अनन्त से त्राटक हो जाने पर भेंट देनेवाला मर जाता है। तब केवल भेंट लेनेवाले तुम्हीं रह जाते हो। ओह ! कैसा कैवल्य है ! कितनी अनुपम शान्ति है ! कैसी धर्ममेघ की मूसलाधार वृष्टि हो रही है !

प्राक्कथन

यह वाक्यसुधा ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य का समझा जाता है। परन्तु जिस ब्रह्मानन्दभारती की टीका का अवलम्ब पकड़ कर हमने यह भाषान्तर किया है उसके देखने से यह ग्रन्थ भारतीतीर्थमुनिकृत प्रतीत होता है। वे लिखते हैं कि—परमकृपानिधिः श्रीभारतीतीर्थगुरुः प्रकरण-प्रतिपाद्यमानमर्थं संक्षिप्य प्रथमश्लोकेन तावद्दर्शयति'—जिसका अर्थ यह है कि परमकृपानिधि श्रीभारतीतीर्थगुरु इस पुस्तक के विषय को संक्षिप्त करके पहले श्लोक से यों दिखाते हैं। इससे निश्चय होता है कि यह 'वाक्य-सुधा' ग्रन्थ भारतीतीर्थ मुनि का बनाया हुआ है। इनके किसी मठ का शंकराचार्य होने से किसी को ऐसा भ्रम हो गया प्रतीत होता है।

इस छोटे से आकार के ग्रन्थ में बताया गया है कि—संसार के सम्पूर्ण परिवर्तनों के अन्दर एक अपरिवर्तित वस्तु काम कर रही है। जो सत् है, चित् है और कोई ध्यान दे तो जो आनन्द भी है, जो इन सब परिवर्तनों को चुपचाप और एकटक बैठी देखा करती है, जो इन परिवर्तनों को कभी टोकती भी नहीं। क़िले के झरोखे में बैठे हुए गोलन्दाज़ की तरह जो सब को देखती है परन्तु इन चर्मचक्षुओं पर और परिणामशून्य झगड़ों में फँसे हुए मन पर भरोसा रखनेवाले कोई भी जिसे देख नहीं पाते। वही अदृश्य वस्तु ज्ञानेन्द्रियों के, कर्मेंद्रियों के और मन के व्यापार गुप्तरूप से चलवा रही है वही इस मांस के झोंपड़े में अहंभाव से बैठकर सुखदुःख, मानापमान और हानिलाभ का भ्रम-पूर्ण अभिनय न जाने क्यों कर रही है। दुनिया बदलती जा रही है पर उसने न बदलने की क़सम खा रक्खी है। वह न घटती है, न बढ़ती है; न मरती है न जीती है स्वयं अकेली बैठी ही बैठी दमकती रहती है। ये बुद्धि आदि उसी से थोड़ी सी चमक पाकर उछलने कूदने लगती हैं।

निरर्थक प्रथा को क्यों जारी रक्खें ? कोई भेंट दे या दे जब सब कुछ तुम नें भेंट ले ही लेना है फिर हम भेंट देने की सुघड़ भलाई ही तुमसे क्यों न ले लें ? यों भेंट देने और न देने के बीच में टँग कर तुम अनन्त से त्राटक हो जाने पर भेंट देनेवाला मर जाता है । तब केवल भेंट लेनेवाले तुम्हीं रह जाते हो । ओह ! कैसा कैवल्य है ! कितनी अनुपम शान्ति है ! कैसी धर्ममेघ की मूसलाधार वृष्टि हो रही है !

उस बुद्धि से थोड़ी सी उधारी चमक इस मुर्दे देह को भी मिल गयी है, तो यह मुर्दा भी चलने फिरने लग पड़ा है और उस मूल चमक को 'दूर हट' कह बैठा है। इस उधारी चमक ने ही दुनिया को चकाचौंध में डाल दिया है। यह चमक मूल में कहाँ से आयी है इसका थोड़ा भी ध्यान लोगों को नहीं है। इतना ही क्यों, लोगों को इतनी फुर्सत भी तो नहीं है कि वे इस अपरिणामी वस्तु को जानने का कष्ट तक उठायें। इस अपरिणामी तत्त्व को कैसे जानें ? उसके लिये क्या क्या उद्योग करें ? उससे हमें क्या कुछ मिलेगा ? इत्यादि सभी ज्ञातव्य प्रश्नों का उत्तर बड़ी सरलता से इस में संक्षेप से दिया गया है। इस को देखने से ज्ञात होगा कि जिस के मन में ये प्रश्न उठते हैं वही तो वह अपरिणामी पदार्थ है जिस ने इस समस्त जड संसार को अपनी चमक उधारी दे रक्खी है। उस उधार को वापिस लेने की विधि भी इस पुस्तक में दृष्टान्तपूर्वक देखने को मिलेगी। इसका 'वाक्यसुधा' नाम अन्वर्थ ही है इस के पढ़ने से अन्तःकरण में सुधापान के समान शान्ति विराजने लगती है। इस का दूसरा नाम 'दृग्दृश्यविवेक' भी है।

प्रातःस्मरणीय श्रीअच्युतमुनिजी की प्रेरणा से हमने यह भाषान्तर किया है। गोविन्द भवन, नागपुर निवासी श्री सेठ वृद्धिचन्द्रजी पोद्दार की आर्थिक सहायता से ही यह प्रकाशन हो सका है। इसके प्रूफ़ संशोधन में बन्धुवर श्री पं० रघुवीरजी शास्त्री ने तथा कठिन विषय के समझने में महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याध्यापक विद्वद्वर श्री पं० हरिदत्तजी ने जो सहायता की है, उसका स्मरण भी हम कृतज्ञतापूर्वक करते हैं।

लिखने का स्थान—

श्रीअच्युतमुनिजी का
चलता फिरता आश्रम
गंगातीर

भाषान्तरकार—
रामावतार
विद्याभास्कर

ओम्

श्रीमद्भारतीतीर्थमुनिप्रणीता

वाक्यसुधा

'मैं' के शुद्ध अर्थ को बतानेवाला एक छोटा-सा निबन्ध

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्, तद्दृश्यं दृक्तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव, न तु दृश्यते ॥१॥

जब (नीला पीला आदि) रूप दीखते हैं, तब लोचन उन्हें देखता है। जब लोचन दीखता है, तब मन उसे देखा करता है। जब मन की वृत्तियाँ दीखा करती हैं, तब साक्षी प्रत्यागात्मा उनको देखा ही करता है। वह तो सदा देखता ही है वह कभी किसी को दीखता नहीं। (अर्थात् वह साक्षी सदा द्रष्टा ही रहता है दृश्य कभी नहीं होता)।

जब हम अपने नेत्रों से किन्हीं रूपादि पदार्थों को देखते हैं, तब वे रूपादि पदार्थ हमारे नेत्र के 'दृश्य' हो जाते हैं और तब नेत्र उन सब का 'द्रष्टा' हो जाता है। परन्तु वही नेत्र (जोकि अभी अभी रूपादि पदार्थों का द्रष्टा हो रहा था) मानसज्ञान की अवस्था में, मन का 'दृश्य' हो जाता है, और वह मन, उस नेत्र का द्रष्टा कहाने लगता है। उसके अनन्तर उसी मन की, (रूपादिविषयक) वृत्तियाँ तो 'दृश्य' हो जाती हैं, और साक्षी आत्मा उनका 'द्रष्टा' होजाता है। परन्तु ध्यान रक्खो कि वह तो सदा द्रष्टा ही रहता है, वह कभी किसी

का दृश्य नहीं होता, क्योंकि वह सदा स्वतः प्रकाश है । कभी दृश्य तथा कभी द्रष्टा बन जाना तो परतः प्रकाश्य जड पदार्थों का स्वभाव है । हमारा नेत्रेन्द्रिय मन की सहायता लेकर द्रष्टा हो जाता है, वह मन भी आत्मा के अनुग्रह से द्रष्टा बन लेता है, परन्तु नेत्रादि इन्द्रियों तथा मन से भी आन्तर जो आत्मा है उसको द्रष्टा होने में किसी की सहायता अपेक्षित नहीं है । इसलिए वह आत्मा सदा द्रष्टा ही द्रष्टा रहता है । वह कभी भी किसी का दृश्य नहीं होता। उस आत्मा को दृश्य श्रेणी में लाने का उद्योग सर्वथा निष्फल रहता है ।

नीलपीतस्थूलसूक्ष्महस्वदीर्घादिभेदतः ।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचन मेकधा ।।२।।

नीले, पीले, मोटे, पतले, छोटे, बड़े आदि नानाविध रूपों (आकारों) को जब यह आँख देखती है तब वह स्वयं एकरूप रह कर ही देखा करती है । सिद्धान्त यह निकला कि—द्रष्टा एकरूप रहता है, दृश्य तो अनेक रूपों को धारण कर लेते हैं ।

"अनेक रूप या अनेक आकार धारण करनेवाला 'दृश्य' कहाता है, तथा एक रूप रहनेवाला 'द्रष्टा' होता है ।" यह एक सर्वमान्य नियम है इसके अनुसार नानाविध रूपों (दृश्यों) को ग्रहण करनेवाले नेत्रेन्द्रिय में, इन नानाविध रूपों के अनुसार कोई भी भेद उत्पन्न नहीं होता। वह तो स्वयं एकरूप रहकर ही इन सब (नाना) रूपों को ग्रहण किया करता है । इस प्रकार नाना प्रकार के रूपादियों को ग्रहण करते समय भी स्वयं एकरूप रहने के कारण वह नेत्रेन्द्रिय द्रष्टा कहाता है ।

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा ।
संकल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम् ।।३।।

यद्यपि नेत्रों के अन्धापन, मन्दता और तीक्ष्णता आदि अनेकों

धर्म हैं परन्तु मन तो एकरूप रहकर उन सबका संकल्प किया करता है (एकरूप रहने से ही उस मन को द्रष्टा कहते हैं) श्रोत्रत्वगादि इन्द्रियों में भी इसी रीति से द्रष्टा और दृश्य का विचार कर लेना चाहिये।

परन्तु जब वही नेत्रेन्द्रिय मन का दृश्य होजाता है, तब मन उस में अन्धापन, मन्दता और तीक्ष्णतादि अनेक धर्मों का संकल्प करने लगता है कि मेरी आँख अन्धी है या मन्दी है या तीक्ष्ण है इत्यादि, इस प्रकार वह नेत्रेन्द्रिय नाना होकर भास्य-दृश्य या ज्ञेय हो जाता है। उन नाना नेत्रेन्द्रियों को प्रकाशित करनेवाला मन, उनके अनुसार कभी भी परिवर्तित नहीं होता। इस दृष्टान्त के अनुसार श्रोत्र त्वक् जिह्वा तथा घ्राणादि इन्द्रियों में भी यही दृग्दृश्यभाव लागू कर लेना चाहिये। ये भी सब इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को प्रकाशित करते समय 'द्रष्टा' कहाती हैं, और अपना प्रकाश करनेवाले मन की अपेक्षा 'दृश्य' हो जाती हैं।

कामः संकल्पसंदेहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः ॥४॥

इसी प्रकार अन्तःकरण की काम, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा अश्रद्धा, धैर्य्य, अधैर्य्य, लज्जा, बुद्धि तथा भयादि भिन्न भिन्न वृत्तियों को, वह सर्वसाक्षी चैतन्य स्वयं एकरूप रहकर ही प्रकाशित किया करता है।

वह चैतन्य स्वयं अपने दृश्य कहानेवाले कामादि विकारों के अनुरूप कभी नहीं हो जाता। किन्तु अविकृत एकरूप रहकर ही उन अनेकों को प्रकाशित किया करता है।

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना ॥५॥

इस उपर्युक्त चैतन्य का न कभी उदय होता है, न कभी नाश

होता है, न वृद्धि होती है और न कभी क्षय ही होता है। किन्तु यह सदा ही स्वयं प्रकाशित होता रहता है। अपनी स्वयंप्रकाशता के पश्चात् अपने से भिन्न सकल पदार्थों को बिना ही किसी साधन के प्रकाशित किया करता है।

अनुभवी विद्वानों को प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाले इस सर्वसाक्षी चैतन्य का न कभी उदय होता और न कभी नाश ही होता है, न कभी इसकी वृद्धि होती, और न कभी इसका क्षय ही होता है। वह चिति किसी अन्य साधन की सहायता के बिना, सब से प्रथम जब कि उसका अपना (सत् चित् आनन्दरूप) आत्मा प्रकाशित हो लेता है, तब उसके पश्चात् वह अपने से भिन्न सकल पदार्थों को प्रकाशित किया करती है। जाति गुण अथवा क्रिया आदिवाले सविकल्प ज्ञानों के उत्पन्न होने से प्रथम यह बात नियम से आवश्यक होती है कि वहाँ पर निर्विकल्प एक रस तथा समज्ञान पहले रहा हो। इस बात को दृष्टान्त से यों समझो कि तरंग या बुलबुले आदि के उदय होने से पूर्व समुद्र का एकरस तथा सम होना नियम से देखा जाता है। अपने प्रकाश में किसी भी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा न करके स्वयं प्रकाश होने के कारण तथा अपने से भिन्न सकल पदार्थों का प्रकाशक होने के कारण 'मैं' इस ज्ञान का विषय यह चिति सम्पूर्ण भाव विकारों से रहित है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि यह चिति अन्तःकरण पर्यन्त सकल बाह्य पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण है। द्रष्टृत्व ही इसका वास्तविक स्वरूप है। यह कभी भी किसी अन्य का दृश्य नहीं होती। यही भाव उपनिषद् में इस प्रकार दिखाया गया है—"अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रममतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ (बृ० ३–८–११) न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्नश्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्नमतेर्मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः (बृ० ४–५–१५) वह किसी की भी दृष्टि का विषय नहीं है किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप है। किसी के भी श्रोत्र का विषय नहीं है किन्तु स्वयं श्रुतिरूप है। मन का

अविषय है तथापि मति स्वरूप है। बुद्धि का अविषय है परन्तु विज्ञान स्वरूप है। अपनी नित्यदृष्टि से लौकिक दृष्टि को व्याप्त करनेवाले को कौन देख सकता है? अपनी नित्य श्रवणशक्ति से लौकिक श्रुति को व्याप्त करनेवाले को कौन श्रवण कर सकता है? अपनी नित्य मनन शक्ति से लौकिक मनोवृत्ति को व्याप्त करनेवाले को कौन मनन कर सकता है? अपने नित्य विज्ञाति स्वरूप से लौकिक बुद्धिवृत्ति को व्याप्त करनेवाले को कौन व्याप्त कर सकता है? तात्पर्य यह हुआ कि इस आत्मवस्तु का कुछ ऐसा ही विलक्षण स्वभाव है कि वह किसी का भी दृश्य नहीं होती। इसलिये आत्मा से भिन्न अन्तःकरणादि तो सदा दृश्य ही रहते हैं, अहम् (मैं) नाम के इस प्रत्यक्-चैतन्य का सच्चा स्वरूप तो द्रष्टृत्व ही है। वह प्रत्यक्-चैतन्य ही परब्रह्म है। यदि उस स्वतःसिद्ध द्रष्टा का भी अन्य द्रष्टा माना जायगा तो उसका भी अन्य द्रष्टा मानना होगा। इस प्रकार बराबर अन्य द्रष्टाओं की कल्पना करनी होगी, और यह द्रष्टृत्वकल्पना कभी भी विश्राम न पा सकेगी, और अन्त में अनवस्था दोष आजायगा। यदि इस अनवस्था दोष के परिहार के लिये चिति को ही चिति का द्रष्टा मानें, तो कर्मकर्तृविरोध उत्पन्न हो जायगा। क्योंकि कोई चतुर पुरुष भी अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। इस प्रकार यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि दूसरे प्रकाश की सहायता न चाहने वाली स्वयंप्रकाश चिति, कभी भी किसी का दृश्य नहीं हो सकती।

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहङ्कृति रन्या स्या दन्तःकरणरूपिणी ॥ ६ ॥

चैतन्य की छाया (प्रतिबिम्ब) का प्रवेश हो जाने से ही बुद्धि में भी ज्ञान होने लग पड़ा है। उस (बुद्धि) के अहंकार और अन्तःकरण नाम के दो भेद हैं।

अनेक प्रकार के परिणाम जिसमें हो सकें उस अन्तःकरण को इस

श्लोक में बुद्धि कहा है। उस बुद्धि में चैतन्य की छाया (प्रतिबिम्ब) के प्रवेश से ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वह यद्यपि स्वभाव से जड है तथापि (अग्नि की सन्निधि हो जाने पर दहकते हुए लोहे की तरह) अपने में प्रविष्ट हुए हुए चैतन्य का बल लेकर स्वयं प्रकाशमान सी मालूम होने लगती है। जब हम उस अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य का अनिवर्चनीय सम्पर्क मान लेते हैं तो "जड अन्तःकरण द्रष्टा क्योंकर बना? उस जड का संसारबन्धन ही क्या हुआ? कूटस्थ साक्षी इस संसार में क्योंकर उलझ गया? यों जब अन्तःकरण और साक्षी दोनों ही संसार से बच गये तो निवर्त्य (हटाने योग्य) संसार ही कहाँ रहा? और उस संसार को हटाने वाला ज्ञान भी निरर्थक क्यों न हुआ? उस ज्ञान को बताने वाले वेदान्त भी निकम्मे क्यों न हो गये? और फिर ऐसे सकलविशेष-शून्य साक्षी तत्व को वेदान्तों ने क्योंकर समझाया? और वह तत्व साक्षी या असंग ही क्योंकर मान लिया गया" इत्यादि अनेक दोषों का परिहार स्वयमेव हो जाता है। साक्षी चिति, चैतन्य, ज्ञान, बोध, प्रत्यगात्मा तथा कूटस्थ आदि अनेक नामों से व्यवहार में आनेवाले, उसी साक्षी की सन्निधि से, नाना प्रकार की चेष्टायें करनेवाली, उस बुद्धि के जिस अंश में कर्तृस्वरूपा वृत्ति का उदय हो, वह तो 'अहंकृति' कहाती है। तथा जिसमें अहमिदमात्मक ('मैं' 'यह' इस प्रकार की) वृत्ति का उदय हो, वह 'अन्तःकरण' कहाती हैं। श्रोत्र आदि करणों की अपेक्षा आन्तर होने से उसे अन्तःकरण कहा जाता है। क्रमानुसार 'कर्त्ता' और 'मन' भी इन दोनों के ही दूसरे नाम हैं।

छायाहंकारयो रैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम् ।
तदहंकारतादात्म्या देहश्चेतनता मगात् ॥७॥

छाया (प्रतिबिम्ब) और अहंकार की, अग्नि में तपे हुए लोह पिण्ड की तरह से एकता मानी गई है। वैसे अहंकार के साथ अन्योन्याध्यास हो जाने से यह स्थूल देह भी चेतन सा हो जाता है।

अग्नि में तपकर लाल हुए लोहे के पिण्ड के समान, अहंकार में पड़ी हुई चैतन्य की छाया और अहंकार दोनों ही इतने हिल मिल जाते है, कि फिर उसमें "इतना भाग अहंकार है तथा इतना चिच्छाया का का स्वरूप है" यह भेद नहीं रह जाता। चैतन्य की छाया को लिये हुए वह अहंकार, जब इस जड स्थूलशरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध कर लेता है, तो उस अहंकार से प्रभावित होकर यह मुर्दा देह भी चेतन (ज्ञान स्वरूप) दीखने लगता है। मरकत मणि की शुद्ध जाति को पहचानने के लिये जब उसे दूध में डाला जाता है, तब सम्पूर्ण श्वेत दूध उसके ही हरित वर्ण का दीखने लगता है, उस दूध में से उस मणि को निकाल लें तो दूध श्वेत का श्वेत ही शेष रह जाता है, इसी प्रकार स्वभाव से सर्वान्तर कूटस्थ असंग तथा ज्ञानस्वरूप साक्षी, अहंकार या इन्द्रिय या स्थूल देह इन में से जिस किसी को अपनी छाया के प्रभाव से प्रभावित कर देता है, उसे ही अपने समान चेतन-सा बना डालता है। उसकी छाया के हटते ही (सुषुप्ति आदि में) यह देह फिर जड का जड ही शेष रह जाता है। इससे समझ लो कि इन देहादियों में प्रतीत होनेवाली चेतनता, इनकी अपनी नहीं है। वह तो इस साक्षी चेतन से ऋण रूप में ली गई है। जो कि (चेतनता) समय समय पर (निद्रा आदि में) अपने अधिष्ठान साक्षी में वापिस चली जाती है।

अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छाया-देह-साक्षिभिः।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात् ॥ ८ ॥

उस अहंकार का चिच्छाया स्थूल देह तथा साक्षी के साथ क्रम से सहज कर्मज तथा भ्रान्तिजन्य इन तीन प्रकार का तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है।

वह अहंकार (कभी तो चैतन्य की छाया के साथ, कभी स्थूल देह के साथ तथा कभी साक्षी के साथ तादात्म्य (एकता) कर लेता

है) जब चैतन्य की छाया के साथ तादात्म्य करता है तो उसे 'सहज तादात्म्य' कहते हैं। जब इस स्थूल देह से तादात्म्य करता है तो उसे 'कर्मज तादात्म्य' कहते हैं। जब कि साक्षी के साथ तादात्म्य करता है तो उसे 'भ्रान्तिजन्य तादात्म्य' कहते हैं। जब कि चिच्छाया और अहंकार उत्पन्न होते हैं, तब उनके साथ ही वह तादात्म्य भी उदय हो जाता है, इस लिए उसे 'सहजतादात्म्य' कहते हैं। सुषुप्ति के समाप्त होने पर जब कि जाग्रत् काल के भोगों को देनेवाले कर्मों का उदय होता है, तब उस अहंकार का इस स्थूल देह के साथ तादात्म्य हो जाता है जिससे कि इस जड देह में भी भोगों को भोगने का सामर्थ्य उदय हो जाता है। इसीलिए (कर्मों के प्रताप से होने के कारण ही) उसको 'कर्मजतादात्म्य' कहते हैं। यह तादात्म्य सम्बन्ध भोगदायी कर्मों के समाप्त होते ही सुषुप्ति आदि में फिर फिर नष्ट होता रहता है। अहंकार के साक्षी को न पहचानने के कारण, जब कि उस अहंकार और उसके साक्षी चेतन का (अनादि तथा अनिर्वचनीय भ्रान्ति के प्रभाव से) तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है तब वह 'भ्रान्तिजन्य तादात्म्य सम्बन्ध' कहाता है। यह सम्बन्ध अधिष्ठान के यथार्थ स्वरूप को पहचानते ही (रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही रज्जुसर्प के तादात्म्य की तरह) क्षणमात्र में निवृत्त हो जाता है।

सम्बन्धिनोः सतो नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्तेते क्रमादुभे ॥९॥

वह 'सहजतादात्म्य' तो जब तक उसके सम्बन्धी (अहंकार और चैतन्य का प्रतिबिम्ब) बने रहेंगे, तब तक कदापि निवृत्त न होगा। परन्तु हाँ देह के साथ उत्पन्न हुआ 'कर्मजतादात्म्य' सुषुप्ति आदि के समय कर्मों के क्षीण हो जाने पर निवृत्त हो जायगा तथा साक्षी के साथ उत्पन्न हुआ 'भ्रान्तिजन्यतादात्म्य' ब्रह्मज्ञान हो जाने पर निवृत्त हो जायगा।

जो अहंकार और चिच्छाया (चिदाभास) परस्पर के सम्बन्धी होकर ही उत्पन्न होते हैं या यों कहें कि उत्पत्ति काल में ही जो सम्बन्धी बन जाते हैं, उन दोनों सम्बन्धियों का 'सहजतादात्म्य' तो उनके विद्यमान रहते रहते कदापि निवृत्त नहीं होगा। परन्तु हाँ 'कर्मज' तथा 'भ्रान्तिजन्य' ये दोनों तादात्म्य सम्बन्ध क्रमानुसार भोगदायी कर्मों के क्षीण हो जाने पर तथा आत्मस्वरूप का बोध हो जाने पर निवृत्त हो सकते हैं। इसे यों समझें कि—सुषुप्ति मूर्छा तथा मरण आदि के समय, जबकि जाग्रद्भोगदायी कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब कर्मरूपी निमित्त के न रहने से, अहंकार और यह स्थूल देह आपस का सम्बन्ध छोड़ बैठते हैं। तब यह 'कर्मजतादात्म्य' सम्बन्ध स्वयमेव निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार अहंकार तथा साक्षी का 'भ्रान्तिजन्यतादात्म्य' सम्बन्ध भी श्रुति तथा आचार्य का अनुग्रह होने पर, (जब कि ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार हो जाता है, और भ्रान्ति का अज्ञानरूपी निमित्त नहीं रहता तो) स्वयमेव निवृत्त हो जाता है—अर्थात् तब अहंकार तथा साक्षी का परस्पर का जो केवल आविद्यक सम्बन्ध हो रहा था वह समूल उच्छिन्न हो जाता है। तब वह अहंकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने पर, जैसे कल्पित रजत शुक्ति में विलीन हो जाता है इसी तरह, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में ही विलीन हो जाता है।

अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहो प्यचेतनः।
अहंकारविकासार्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ॥१०॥

सुषुप्ति के समय—जब कि अहंकार का पूरा लय हो जाता है तो यह स्थूल देह भी बिलकुल अचेतन हो जाता है। जब तो अहंकार का आधा विकास होता है तब वह स्वप्नावस्था कहाती है। अहंकार के पूर्णरूप से विकसित हो जाने पर जागरण अवस्था आ जाती है।

(यहाँ तक अहंकार के प्रभाव का वर्णन समाप्त हुआ। अब आगे अन्तःकरण का वर्णन किया जायगा)।

जाग्रत् काल के भोगों को 'स्थूल भोग' तथा स्वप्न काल के भोगों को 'सूक्ष्म भोग' कहा जाता है। पुण्य पाप कर्मों की तीव्रता के कारण ही जाग्रत् काल के भोग स्थायी होते हैं, और पुण्य पाप कर्मों की मन्दता के कारण स्वप्नकाल के भोग क्षणिक हुआ करते हैं। परन्तु जब कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के भोगों को देनेवाले कर्म समाप्त हो जाते हैं, तब तो वह अहंकार निकम्मा होकर अपने कारण (अज्ञान) में लीन हो जाता है। अहंकार की उस लयावस्था को ही 'सुषुप्ति' कहते हैं। जिस अवस्था के आ जाने पर इस देह की वास्तविक जड-रूपता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है, और केवल अहंकार के ही सम्बन्ध से उत्पन्न हुई कृत्रिम चेतनता छिप जाती है। जैसा कि श्रुति में कहा है—'अन्धः सन्ननन्धो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवति, उपतापी सन्ननुपतापी भवति' अर्थात् जाग्रत् काल में यदि वह किसी चक्षुरादि इन्द्रिय से हीन भी हो तो भी सुषुप्तिकाल आते ही, आत्ममात्र शेष रह जाने से, वे अन्धापन आदि इन्द्रिय-दोष उसमें नहीं रहते। इसी प्रकार यदि वह शरीर से घायल भी हो तो उस समय अशरीर हो जाने के कारण अविद्ध (बेघायल) हो जाता है। यदि उसके मन में उपताप हो तो भी सुषुप्ति काल आते ही उन सब चिन्ताओं से रहित हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि सुषुप्ति में इन्द्रिय देह तथा मन के धर्मों से असंपृक्त होकर अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। उस सुषुप्ति के पश्चात् जब कि सूक्ष्म भोगों को देनेवाले कर्म उदय होते हैं और वह अहंकार अपने कारण अज्ञान में से अंशतः बाहर निकल कर आधा विकसित होता है, तो स्वप्नावस्था आजाती है। क्योंकि उस समय अहंकार से भिन्न और कोई भी बाह्य पदार्थ नहीं रहता, भोगों के केवल संस्कारमात्र ही रहते हैं। उस सूक्ष्म भोग के समय

इस स्थूल शरीर में अभिमान नहीं रहता, किन्तु अहंकार का प्रभाव हमारे शरीर की सूक्ष्म नाडियों में ही परिमित रहता है। यही अहंकार का आधा विकास कहाता है इसे ही 'स्वप्न' भी कहते हैं। इसीलिए उपनिषदों में बतलाया है कि 'न तत्र रथा न रथयोगा भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' अर्थात् स्वप्नकाल में न रथ होते हैं, और न घोड़े ही होते हैं, परन्तु अपनी वासना के अनुसार रथ घोड़े मार्ग आदि सब पदार्थों की कल्पना कर लेता है। उस स्वप्नावस्था के भी व्यतीत होने पर जब कि स्थूल भोगों को देनेवाले कर्म उदय होते हैं, तब उन कर्मों के प्रभाव से, वही अहंकार अपने कारण अज्ञान में से सम्पूर्णतया बाहर निकल कर, इस देह को पूरा पूरा व्याप्त कर लेता है, और तब सर्वेन्द्रियों से सर्व विषयों का ज्ञान होने लग जाता है। अहंकार के इस पूर्ण विकास को ही 'जागरण' कहा जाता है। इस अवस्था के आजाने पर (जबकि इस देह का अहंकार के साथ दुबारा सम्बन्ध होता है तो) यह मृतदेह भी चेतन सा प्रतीत होने लगता है। परन्तु वस्तुतः यह देह कदापि चेतन नहीं है। इन तीनों अवस्थाओं के स्वरूप को न जानकर ही भ्रान्ति के कारण अविचारी लोग, कर्तानाम वाली तथा अहंकृतिरूप बुद्धि के प्रभाव में आकर, इस देह को ही चेतन मान बैठते हैं, और मर्त्यलोक के आजीवन सहायक हो जाते हैं। उन्हें परमार्थ के विचार का प्रसंग कभी नहीं आत। उन्हें ऐसे विचारों के लिये फुर्सत भी नहीं मिलती। उन्हें यह पता ही नहीं रहता, कि सकल जगद्व्यवहार अहंकार की गुप्त सहायता से ही चल रहा है।

अन्तःकरणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता।
वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान् बहिः ॥११॥

अन्तःकरण की वृत्ति जब कि स्वप्नकाल में (तपे हुए लोहपिण्ड के

समान) चैतन्य की छाया के साथ एकता को प्राप्त होती है तो उस समय वह वासनाओं की कल्पना कर डालती है। जागरण काल में तो वही अन्तःकरण की वृत्ति देह से बाहर इन्द्रियों की सहायता से विषयों की कल्पना कर लेती है।

अहमिदम् (मैं यह) इस स्वरूप से प्रकट होनेवाली, मन नाम की वह दूसरी अन्तःकरणवृत्ति भी, अहंकार की तरह ही जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में क्रमशः कभी संकुचित और कभी विकसित होती रहती है। सुषुप्ति काल में प्रथम तो वह भी अहंकार की तरह ही लीन रहती है। वही अन्तःकरणवृत्ति, सूक्ष्म भोगों को देनेवाले कर्म जब उदय होते हैं तो तपे हुए लोहपिण्ड के समान चिच्छाया के साथ एकता को प्राप्त होकर स्वप्नकाल में सूक्ष्मनाडियों में ही परिमित रहकर, कर्ता कर्म करण तथा क्रिया रूप व्यवहार करने मे समर्थ वासनाओं को उत्पन्न किया करती है। जिससे कि कर्त्ता अहंकार को सूक्ष्म भोग प्राप्त होने लगते हैं। स्थूल भोगों को देनेवाले कर्म जब उदय होते हैं तो फिर वही अन्तःकरणवृत्ति इस स्थूल शरीर के साथ मिलकर, (जागरणकाल में) श्रोत्रादि इन्द्रियों की सहायता से, बाह्य शब्दादि विषयों की कल्पना कर डालती है।

इस कल्पना का तात्पर्य तो यह है कि—बाह्य पदार्थों का स्वरूप यद्यपि ईश्वरकल्पित है, तथापि उनका भोग्य आकार अन्तःकरण की कल्पना से ही उत्पन्न होता है। इसीलिये अपने अपने अन्तःकरण की कल्पना के अनुसार एक ही पदार्थ नाना लोगों को नाना प्रकार के भोग देने में समर्थ हो जाता है। जैसे कि—ईश्वरनिर्मित एक ही स्त्री-शरीर भोक्ताओं की भिन्न भिन्न भावनाओं के अनुसार किसी को पत्नी भोग किसी को मातृभोग आदि नाना भोग देने में समर्थ हो जाता है।

मनोहंकृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम्।
अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ॥१२॥

मन और अहंकार का उपादान कारण जो जडस्वरूप लिंग देह है वह ही जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है तथा वही जन्मता है और वही मरता रहता है।

मन तथा अहंकार के उपादानकारण उसी अन्तःकरण नामक द्रव्य को 'लिंग' कहते हैं। क्योंकि उसी से सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की अवगति (ज्ञान) होती है। ज्ञान और क्रिया नामक दोनों शक्तियें उसमें आकर एक हो जाती हैं। इस प्रकार का वह अन्तःकरण यद्यपि स्वभाव से जड है, तो भी अपने में प्रविष्ट चैतन्य की छाया के कारण इस स्थूल शरीर को भी अपना आत्मा ही समझ लेता है और कर्मगति के प्रभाव में आकर, अपने संकोच और विकास के द्वारा, प्रतिदिन तीनों अवस्थाओं, तथा जन्म मरणादि गतियों को, घटीयन्त्र की तरह बार बार प्राप्त होता रहता है।

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् ।
विक्षेपशक्ति लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत ॥१३॥

माया में विक्षेप और आवरणनामक दो शक्तियें हैं। माया की विक्षेप शक्ति का काम यह है कि वह लिंगदेह से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सकल जगत् को उत्पन्न कर देती है।

(तृण से लेकर विराट्पर्यन्त इस समस्त प्रपंच की मूलकारण, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के आश्रित रहने वाली, अविद्या अज्ञान तम तथा मोह आदि नामों वाली, सम्पूर्ण दुःखादि अनर्थों की मूल निदान) इस अनिर्वचनीय माया में 'विक्षेप' और 'आवरण' नाम की दो शक्तियें निवास करती हैं। आवरण शक्ति का काम है ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को ढक लेना, और विक्षेप शक्ति का काम है सांसारिक सुख दुःखादि भोगों को देना। विविध रूपों को कर देना अथवा विविध रूपों में हो जाना इन दो तरह की विक्षेप शक्ति अध्यात्म में तो विश्व,

तैजस तथा प्राज्ञादि भेदों की, और अधिदैवत में विराट्, हिरण्यगर्भ तथा अन्तर्यामी आदि भेदों की कल्पना करके (सजातीय विजातीय स्वगतादि भेदरहित) चिन्मात्र आत्मा को विक्षेप में डाल देती है। अथवा यों कहें कि वह आत्मा ही इसके प्रभाव से गिरि नदी समुद्र आदि नाना नामरूपों में स्वयमेव परिणत हो जाता है। वह विक्षेप शक्ति लिंगशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जो समष्टिव्यष्टिरूप, सम्पूर्ण जगत् है उसकी रचना क्षणमात्र में कर डालती है। 'जायते गच्छति' पैदा हो चला जाय 'पुनर्जायते पुनर्गच्छति' फिर पैदा हो फिर चला जाय इस अर्थ में जगत् शब्द का प्रयोग इस श्लोक में है।

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि।
अब्धौ फेनादिवत्सर्वनामरूपप्रसारणा ॥१४॥

समुद्र में फेन तरंगादि की तरह एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में सकल नाम रूप का विस्तार हो जाना ही तो सृष्टि कहाती है।

जैसे कि समुद्र में रहनेवाली विक्षेपात्मिका माया, जब उसी समुद्र में फेन तरंग तथा बुद्बुदादि आकार को धारण कर लेती है, तब उसे सामुद्रिक सृष्टि कहा जाता है। वैसे ही परमार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में सकल नामरूप प्रपंच का विस्तार ही सृष्टि कहाती है। अर्थात् उस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में निवास करनेवाली वह विक्षेपरूपिणी माया, जब उसी ब्रह्म में विवर्त रूप परिणाम के द्वारा नामरूप धारण कर लेती है, तब उसी को सृष्टि कहने लगते हैं।

यहाँ तक विक्षेप शक्ति के द्वारा माया के स्वरूप का वर्णन हुआ अब आवरण शक्ति के द्वारा भी माया का रूप दिखाते हैं।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥१५॥

(माया की) दूसरी आवरण शक्ति ने इस स्थूल देह के अन्दर

तो दृग्दृश्य के भेद को ढक दिया है (उसे प्रकट होने नहीं दिया) और शरीर से बाहर ब्रह्म तथा सृष्टि के भेद को ढक डाला है। यह आवरण शक्ति ही संसार का मूल कारण है।

आवरण नाम की जो दूसरी माया शक्ति है उसने इस स्थूल शरीर के अन्दर तो यह अनिष्ट कर डाला है कि जो द्रष्टा आत्मा, और जो अहंकारादि देह पर्यन्त दृश्यपदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं, उन दोनों की विलक्षणता या पृथक्ता को बिल्कुल छिपा लिया है (जिससे कि यह साक्षी द्रष्टा है और ये देहादि दृश्य हैं ऐसा भान नहीं होने पाता) और देह से बाहर इस आवरण नाम की माया शक्ति ने यह उत्पात मचाया है कि परब्रह्म और (उसमें अध्यस्त नाम रूपात्मक) जगत् के भेद को भी प्रकट होने योग्य नहीं छोड़ा है। इस दृक्स्वरूप साक्षी को जो कि इस कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि संसार में फँसना पड़ गया है, उसका कारण यह आवरण शक्ति ही है। अन्योन्याध्यास का कारण होने से यही शक्ति सम्पूर्ण अनर्थों को करनेवाली है। सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को भोग्यरूप में कर डालना भी इसी शक्ति का काम है। इस शक्ति के प्रभाव में आकर यह साक्षी शरीर के अन्दर तो कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपी संसार को प्राप्त हो जाता है, तथा शरीर से बाहर इसके प्रताप से सच्चिदानन्दब्रह्म के भोग्यत्व आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम्।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ॥१६॥

चैतन्य की छाया का प्रवेश हो जाने से, साक्षी आत्मा के सामने (या उसकी कृपा से) भासित होनेवाला और स्थूल देह के साथ हिला मिला, यह लिङ्ग देह ही 'व्यावहारिक जीव' कहाता है।

चैतन्य की छाया का समावेश हो जाने से ही साक्षी प्रत्यगात्मा

के सामने (कर्मरूप से) प्रतीत होने वाला, और इस स्थूल देह के साथ एकता को प्राप्त हुआ वह लिङ्गशरीर ही 'व्यावहारिक जीव' कहाता है। क्योंकि अनादि काल से लेकर मोक्ष होने तक स्थूल शरीरों के बार बार बदलते रहने पर भी यह कभी नहीं बदलता। इसी के सहारे से इस लोक तथा परलोक के सकल व्यवहारों का निर्वाह होता है। इस लिङ्ग शरीर (किंवा व्यावहारिक जीव) ने अनिर्वचनीय माया से अपनी उत्पत्ति का लाभ किया है। इस सकल संसार के कर्मों का निर्वाहक भी यही है। परन्तु ज्योंही कोई अधिकारी सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मैक्य स्वरूप में स्थित होकर मोक्ष लाभ कर लेता है, त्योंही यह 'व्यावहारिक जीव' विनष्ट हो जाता है। यों परमार्थावस्था में न रहने तथा केवल व्यवहारावस्था में ही रहने से इसको 'व्यावहारिक जीव' कहा जाता है।

अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥१७॥

केवल भ्रम के ही कारण, इस 'व्यावहारिक जीव' का जीवपना, निर्लेप साक्षी में भी प्रतीत होने लग पड़ता है। हाँ, जब आवरण नष्ट हो जाता है और (जब व्यावहारिक जीव और साक्षी का) भेद खुल जाता है, तो साक्षी का वह भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ जीव भाव नहीं रहता।

आरोप से अर्थात् आवरणशक्ति के कारण उत्पन्न हुए अन्योन्याध्यास के प्रताप से इस 'व्यावहारिक जीव' का जीवपना (केवल दृग्रूप साक्षी) प्रत्यगात्मा में भी प्रतीत होने लग पड़ता है स्वरूप-चैतन्य का ज्ञान होना भी इसी कारण से सम्भव हो गया है। परन्तु अखण्ड एकरस ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के प्रभाव से, जब कि असत्वावृति और अभानावृति नाम के दोनों ही आवरणों का सदा के लिये पूरा पूरा नाश हो जाता है और जब कि यह लिंग शरीर (अथवा व्यावहारिक जीव) तो दृश्य है, तथा प्रत्यग्बोधरूप मैं साक्षी द्रष्टा हूँ यह

दृश्य और द्रष्टा का भेद भले प्रकार प्रकाशित हो चुकता है, तो साक्षी में आरोप से किया हुआ यह जीवभाव नष्ट हो जाता है (साक्षी में आरोपित इसी जीवभाव के नष्ट करने के लिये मोक्ष शास्त्र की रचना की गई है)।

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति ।
या शक्ति स्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥१८॥

उसी तरह जिस आवरण शक्ति ने ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक दिया है उसी शक्ति के प्रभाव से ब्रह्म भी विकारी सा प्रतीत होने लग पड़ा है।

जिस प्रकार वह आवरण शक्ति शरीर के अन्दर द्रष्टा और दृश्य के भेद को प्रकट होने नहीं देती किन्तु उसे ढके रहती है, (जिससे कि व्यावहारिक जीव का जीवभाव आरोप के कारण साक्षी में प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार वही आवरण शक्ति शरीर से बाहर इस नाम-रूपात्मक सृष्टि की तथा उस ब्रह्म की परस्पर अत्यन्त विलक्षणता को भी प्रकट नहीं होने देती। उसी आवरण शक्ति के अप्रतिम प्रभाव से सृष्टि और ब्रह्मका परस्पर अन्योन्याध्यास होकर वह सच्चिदानन्द परमात्मा, कूटस्थ होने पर भी और भाव विकारों से रहित होने पर भी, सृष्टिगत विकारों से विकारी सा प्रतीत होने लग जाता है।

अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः ।
भेद स्तत्र विकारः स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥१९॥

अन्दर की तरह यहाँ बाहर भी आवरण के नष्ट हो जाने से ब्रह्म और सृष्टि का भेद खुल जाता है। तब वह विद्वान् समझ लेता है कि ये जन्मादि विकार तो सृष्टि में ही होते हैं, ब्रह्म में तो कभी भी कोई विकार नहीं होता।

आवरण के नाश से भेद का ज्ञान हो जाने पर जैसे कि शरीर के

अन्दर का आरोपित जीवभाव नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार शरीर से बाहर का भी जब आवरण नष्ट होता है—जब साधक को सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा का ज्ञान हो जाता है—जबसाधकों को 'ब्रह्मास्मि' कह देना पड़ता है—जब साधकों में से सूक्ष्मवासनायें भी भाग खड़ी होती हैं, तब ब्रह्म और सृष्टि का जो भेद अब तक छिप रहा था वह प्रकट होजाता है। उस समय पर विद्वान् लोग अपने मन में कहा करते हैं कि—ये सम्पूर्ण जन्मादि विकार तो सृष्टि में ही होते हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में तो कहीं भी कोई विकार नहीं होता।

ऊपर के ग्रन्थ से त्वंपदार्थ (जीव) का विवेचन किया गया, अब तत्पदार्थ (ब्रह्म) का विवेचन किया जाता है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नामचेत्यंशपंचकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥२०॥

सत् चित् आनन्द नाम तथा रूप इन पाँच भागों में संसार को विभक्त किया जा सकता है। इनमें पहले तीन ब्रह्म के रूप हैं, पिछले दो जगत् के रूप हैं।

सत् चित् आनन्द नाम तथा रूप इन्हीं पाँच अंशों का संसार के सम्पूर्ण व्यवहारों में होना अनिवार्य होता है। इन पांचों के बिना कोई भी व्यवहार नहीं चलता, अर्थात् संसार के सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ सत् चित् आनन्द नाम तथा रूप (आकार) इन पांच भागों में विभक्त रहते हैं। इनमें पहिले सत् चित् तथा आनन्द नामक तीनों अंश तो ब्रह्म के स्वरूप हैं, क्योंकि सच्चिदानन्द रूप को ही ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण बताया जाता है। इन तीनों से शेष रहे हुए नाम तथा रूप (आकार) ये दोनों अंश ही जगत् के स्वरूप हैं। जब सच्चिदानन्द ब्रह्म में नाम रूप का विस्तार हो जाता है, तो उसे ही जगत् कहने लगते हैं।

खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु ।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी ॥२१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक समस्त भूतों में, देव, तिर्यक् तथा मनुष्य आदि सकल भौतिक पदार्थों में, सत् चित् तथा आनन्द तो एक समान ही पाये जाते हैं, केवल नाम और रूप ही परस्पर भिन्न भिन्न हैं।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक पांच भूतों, देवतिर्यङ् मनुष्यादि सकल भौतिक पदार्थों में 'सत् चित् आनन्द' ये तीनों अंश तो समानरूप से ही विराजमान रहते हैं, जिसके कारण हम लोग सदा ही 'घट है' 'घट की प्रतीति भी होती है' 'जलपान आदि का साधन होने से वह प्रिय भी लगता है' इत्यादि व्यवहार किया करते हैं। परन्तु उन्हीं भूत भौतिक पदार्थों में रहने वाले, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न 'रूप' तथा 'नाम' नामक दोनों अंशों ने, इस अबोध संसार में कोहराम मचा रक्खा है—इन्होंने अभिन्न को भिन्न बना दिया है, अद्वैत को द्वैत की वेशभूषा पहना दी है, किसी को एक दूसरे से न मिलने देने के लिए बड़े बड़े गर्त बना डाले हैं, इनके प्रभाव से किसी की आकृति किसी से नहीं मिलती, नाम भी सब के जुदा जुदा होगये हैं। अन्ततः यह सब उस अनिवर्चनीय महामहिम माया का प्रभाव है कि—उसने सब को बनाकर सब के नाम और सब के आकार पृथक् पृथक् बना डाले हैं, और संसार में भेद डाल दिया है।

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाथवा बहिः ॥२२॥

(जगत् के स्वरूप) नामरूपों की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द ब्रह्म में तत्पर होकर या तो हृदय में या बाहर कहीं भी सदा ही समाधि किया करे।

एक दूसरे से सर्वथा भिन्न इस जगत् * के क्षण क्षण में नष्ट होने वाले आकारों और नामों की सर्वथा उपेक्षा करके (इनकी ओर से सर्वथा उदासीन होकर) सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही एकचित्त होकर, आगे बताई विधि के अनुसार, अपनी ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों को तो हृदयकमल में तथा कर्मेन्द्रियों की वृत्तियों को जहाँ का तहाँ रोककर मुमुक्षु पुरुष शरीर के अन्दर या बाहर निरन्तर समाधि का अभ्यास किया करे।

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुवेधेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥२३॥

हृदय में की जानेवाली उस समाधि के मुख्य दो भेद हैं, एक 'सविकल्प' दूसरा 'निर्विकल्प'। सविकल्प समाधि के भी दो अवान्तर भेद होते हैं, एक 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि', दूसरी 'शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि'।

जब वह समाधि किसी दृश्य से मिश्रित हो तब उस समाधि को 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प' तथा जब वह समाधि, किसी शब्द से मिश्रित हो तब उस समाधि को 'शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहते हैं, इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी निर्विकल्प समाधि को मिलाकर तीन प्रकार की समाधि हो जाती है। अधिकारी को अपने हृदय में इन तीनों समाधियों को करते रहना चाहिये।

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोयं समाधिः सविकल्पकः ॥२४॥

काम आदि विकार चित्त में रहनेवाले दृश्य होते हैं, उन दृश्यों

---

* 'जायते गच्छति पुनर्जायते पुनर्गच्छति' उत्पन्न हो नष्ट होजाय फिर उत्पन्न हो फिर विनष्ट होजाय उसे जगत् कहते हैं यह परम्परा नाम रूपों में सदा ही लगी रहती है इसलिये इन नामरूपों को ही 'जगत्' कहते हैं।

के साक्षी रूप से चेतन तत्व का ध्यान किया करे। उन काम क्रोध आदियों में से एक एक को पकड़ कर यह सोचा करे कि इस काम का या इस क्रोध का साक्षी जो चैतन्य है वही मेरा यथार्थ रूप है। जब इस प्रकार चिन्मात्र की भावना की जाने लगी हो तो यही 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प' समाधि कहाती है।

यह अन्तःकरण ही काम तथा संकल्प आदि के उदय होने का स्थान है। जब कभी अन्तःकरण में काम तथा संकल्प आदि उदय होने लगें, उसी समय, उन काम या संकल्प आदियों में से एक को पकड़ कर निम्न-विधि से चिन्मात्र आत्मा का ध्यान करना चाहिये कि—इन कामादियों का साक्षी जो चैतन्य है वही तो मेरा वास्तविक स्वरूप है, ये कामादि तो आने जानेवाले धर्म हैं, मैं कूटस्थ इनका साक्षी हूँ। जब कभी अन्तःकरण में इनका उदय होता है तब तब मैं इनको प्रकाशित कर दिया करता हूँ। जब ये कामादि, अपने क्षणिक स्वभाव के अनुसार विनष्ट हो जाते हैं तब भी, (शून्य घर में जलते हुए दीपक की तरह) मेरा अखण्ड प्रकाश सदा ही बना रहता है। स्नेह के विना जलते हुए इस मेरे बोधदीपक ने बुझना तो कभी सीखा ही नहीं। मैं इन कामादि जैसा परिणामी नहीं हूँ, मध्यान्ह काल में अपने बिल में से निकले हुए सर्प को जिस प्रकार सूर्य अविकृत रहकर ही प्रकाशित किया करता है और उस सूर्य में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं होता, इसी प्रकार मैं साक्षी चैतन्य भी स्वयं सर्वथा अविकारी रहकर ही इन कामादियों को प्रकाशित किया करता हूँ। इनके विनष्ट हो जाने पर जो निर्विकल्प ज्ञान शेष रह जाता है वह ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार जब चिन्मात्र की भावना बढ़ने लगे तो यही 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प' समाधि होती है।

असंगः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
असीतिशब्दविद्धोयं समाधिः सविकल्पकः ॥२५॥

मैं असंग हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं स्वयं प्रकाश हूँ, मैं द्वैत से रहित हूँ, यों शब्दों के सहारे से की जानेवाली समाधि अन्दर की 'शब्दानुविद्ध समाधि' कहाती है।

मैं असंग हूँ 'असङ्गोह्ययं पुरुषः' मैं सच्चिदानन्द हूँ 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दंब्रह्म' मैं स्वयं प्रकाश हूँ 'अदृष्टंद्रष्टृश्रुतं श्रोतृ, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येत्' मेरे प्रकाश्य कामादि भी मुझ प्रकाशस्वरूप से भिन्न नहीं हैं, इसलिये मैं कामादि द्वैत से रहित हूँ 'एकमेवा-द्वितीयम्' इस प्रकार का प्रत्यग्रूप जो साक्षी तत्व है वही तत्व मैं हूँ ऐसी भावना निरन्तर ही करते रहना चाहिये। आत्मविषयक इन असंग आदि शब्दों की भावना से कामादि सम्पूर्णवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, विजातीय प्रत्ययों का प्रवाह बन्द होकर, प्रत्यक् चैतन्य को विषय करने वाली विचारधारा बहने लगती है। इसी को अन्दर की 'शब्दानु विद्ध सविकल्प समाधि' कहते हैं। वसिष्ठ मुनि ने इसी को इन शब्दों में प्रकट किया है—"निरीहोस्मि निरंशोस्मि स्वस्थोऽस्म्यस्मि च निःस्पृहः। शान्तो ह्मर्थरूपोस्मि चिरायाहमलं स्थितः" मैं निरीह हूँ, निरवयव हूँ, स्वस्थ हूँ, निःस्पृह हूँ, शान्त हूँ, प्राप्तव्य अर्थों का स्वरूप भी मैं ही हूँ इस लिए अब तो मैं अनन्तकाल के लिये पूर्ण होकर स्थित हो गया हूँ।

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः।
निर्विकल्पः समाधिःस्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥२६॥

(इन दोनों समाधियों के करने से) जब कि अपने अनुभव के रस का आवेश आने लग पड़े और दृश्य तथा शब्दों की उपेक्षा होनी प्रारम्भ हो जाय, तो अधिकारी को निवात स्थान में रखे हुए दीपक की तरह की 'निर्विकल्प समाधि' अपने आप ही होने लगती है।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार की समाधियों का अभ्यास करते करते, उनकी

परिपक्क अवस्था आने पर, जब कि अभ्यासी को उसके स्वरूपभूत ज्ञानानन्द का आविर्भाव होता है, जब अधिकारी स्वरूपभूत ज्ञानानन्द में डूब जाता है, या स्वरूपभूत ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा जब कि भूतावेश की तरह सकल संसार को भुलानेवाला स्वानुभवानन्द का आवेश आता है, तब वह अधिकारी सम्पूर्ण कामादि, दृश्यों, तथा (सविकल्पसमाधि में सहायता देनेवाले) असंग आदि शब्दों को भी अपने लिये निष्फल समझ कर, (अपना अन्धकारावृत मार्ग देखकर फैंकी हुई मशाल की तरह) छोड़ देता है और चुपचाप हो जाता है; तब स्वानुभूतिरसावेश के कारण ग्रहग्रस्त की तरह की जो अलौकिक और दिव्य पराधीनता उदय होती है (जिसके उदय होने पर अन्दर और बाहर कुछ भी भान नहीं रहता) वही शान्त अवस्था 'निर्विकल्प समाधि' कहाती है। लय विक्षेप तथा कषाय आदि प्रतिबन्ध जब हट जाते हैं तो यह असंप्रज्ञात नामक निर्विकल्प समाधि स्वयमेव होने लगती है। इस के लिये किसी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। उस निर्विकल्प समाधि का प्रादुर्भाव होने पर जब कि विषमता को उत्पन्न करने वाले विकल्प निवृत्त हो चुकते हैं, और समता का अखण्ड साम्राज्य सर्वत्र छा जाता है, तब उस अधिकारी का चित्त, निरोधपरिणाम को धारण कर लेता है और वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक की निश्चेष्ट ज्वाला की तरह निश्चल हो जाता है। वसिष्ठ मुनि ने इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट किया है—"अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे, अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव, भावनामखिलां त्यक्त्वा यदिष्टं तन्मयो भव। द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह, दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज। प्रशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः, जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा" ओ! अनन्त साम्राज्य के साधक! तुम्हें चाहिये कि—आकाश में रक्खे हुये खाली घड़े की तरह अन्दर

और बाहर संसार की वासनाओं से खाली हो जाओ ! तथा समुद्र में डूबे हुवे घड़े की तरह अन्दर और बाहर आत्मचैतन्य से परिपूर्ण हो जाओ। अपने आपको कभी भी दृश्य या द्रष्टास्वरूप मत हो जाने दो। इन सम्पूर्ण भावनाओं को छोड़ने के बाद जो प्रिय आत्म-चैतन्य शेष रह जाय केवल तन्मय ही रह जाओ। द्रष्टा दर्शन तथा दृश्य इन सबको तथा इनके सकल संस्कारों को छोड़कर, सविकल्पज्ञान के उदय होने से प्रथम प्रतीत होनेवाले, निर्विकल्प आत्मचैतन्य का भजन करो। जब कि तुम्हारे सर्वसंकल्प शान्त हो जायेंगे—और सैकड़ों योजन लम्बी शिला की तरह अपनी निश्चेष्ट अवस्था को पहचान जाओगे, जाग्रत् और स्वप्न से रहित होकर तुरीय धाम में पहुँच चुकोगे, तब कहा जायगा कि तुमने स्वरूपस्थिति का महालाभ कर लिया।

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यः सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥२७॥

हृदय की ही तरह बाहर के देश में भी, जिस किसी भी वस्तु में सत्तामात्र से नामरूप को पृथक् करने लगना, बाहर की 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती हैं।

जैसे हृदय में साक्षी तत्व में से कामादियों को छाँट देना बताया था, और दृश्यानुविद्ध समाधि करनी बतायी थी वैसे ही बाहर भी अपनी प्रिय किसी भी एक वस्तु को पकड़ो, उसमें जो सत् चित् आनन्द नाम और रूप पाँच अंश हैं उन पाँचों अंशों के दो भाग करो। सच्चिदानन्द ब्रह्म में से नामरूप को अलग कर डालो। इन अलग किये हुए नामरूपों का अधिष्ठान जो सच्चिदानन्द तत्व है वही ब्रह्म है, ऐसा चिन्तन करना ही 'बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती है। वसिष्ठ ने कहा है 'यत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी रज्वां भुजङ्गवद्भाति सोऽहमात्मा सदोदितः। रस्सी में साँप की तरह प्रतिभामात्र रूपवाली यह विश्वश्री

जिस तत्व में स्थित हो रही है वही सदा उदित रहने वाला आत्म-तत्व मैं हूँ।

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधि र्मध्यमो भवेत् ॥२८॥

'सच्चिदानन्द रूप जो वस्तु है वह तो अखण्ड है और एक रस है' जब इस प्रकार की अखण्ड चिन्ता रहने लग पड़े तो यह दूसरी 'बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती है।

व्यापक होने से जिसमें देशकृत परिच्छेद नहीं, नित्य होने से जिस में कालकृत भेद नहीं, सर्वात्मा होने से जिसमें वस्तुकृत अवच्छेद नहीं, इस प्रकार जो देश काल आदि की मर्यादा में न आनेवाली अखण्ड एक रस (तीनों कालों में एक समान रहने वाली) सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वात्मक तथा निरन्तर वस्तु है वही ब्रह्म है। जब कि शान्त चित्त होकर इस रीति से चिन्तन का धारावाहिक प्रवाह बहने लगता है तब वह दूसरी 'बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती है। वसिष्ठ ने इसको यों कहा है—एवं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितं, नीरन्ध्रभूरिवाशेषमिति भावय राघव। नाहं न चान्यद्वास्तीति ब्रह्मैवास्मि निरन्तरम् आनन्दपूर्णः सर्वत्राप्यनुद्वेगादुपास्यताम्। ब्रह्म नाम का जो चेतन आकाश है वह सर्वात्मा है, अखण्ड है, निश्छिद्र भूमि के समान वह सम्पूर्ण है, हे राघव ! तुमको ऐसी भावना करते रहना चाहिये, कि यहाँ मैं या और कोई भी पदार्थ नहीं है, किन्तु निरन्तर और आनन्दपूर्ण जो एक तत्व है वही मैं हूँ। हे राघव ! सभी पदार्थों में इस भावना को करते हुये उद्वेग को अपने पास कभी मत फटकने दो।

स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भि र्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥२९॥

उक्त दोनों प्रकार की बाह्य समाधि करते करते जब ब्रह्मरस का आस्वाद साधकों को मिल जाय और उनमें स्तब्धीभाव आ जाय, जब

४

वे सम्पूर्ण निश्चल हो जायँ तब यह तीसरी 'निर्विकल्प समाधि' हो जाती है। यह समाधि भी पहली निर्विकल्प समाधि की तरह ही होती है। मुमुक्षु लोग इन छओं प्रकार की समाधियों में से प्रतिक्षण कोई न कोई समाधि करते ही रहें।

अन्दर की तीन प्रकार की समाधि का विषय जो साक्षी तत्व है उसका साक्षीपन तभी स्वीकृत हो सकता है जब कि उसे ब्रह्मतत्व ही माना जय नहीं तो समाधि का कुछ आधार ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार बाहर की तीन प्रकार की समाधि का विषय जो ब्रह्म है उसकी सर्वात्मकता तभी स्वीकृत हो सकती है जब कि उसे आत्मतत्व ही मान लिया जाय। यों जब ब्रह्म सर्वात्मक सिद्ध हो जाय, तब रसरूप इस परब्रह्म में अपना भी अन्तर्भाव होने से अपने को भी रसरूप ही समझ लिया जाय तो यही 'रसास्वाद' कहाता है—इस 'रसास्वाद' के प्रभाव से, अन्दर की निर्विकल्प समाधि की तरह, जब कि 'बाह्यदृश्यानुविद्ध' तथा 'बाह्यशब्दानुविद्ध' दोनों प्रकार की सविकल्प समाधियों का अभ्यास अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुँच जाता है और भूमानन्द का स्वाद मिलने लगता है, तब वह अधिकारी अपनी सविकल्प समाधि के विषय समष्टि-व्यष्टिरूप इस समस्त दृश्य जगत् को तथा शब्दानुविद्ध समाधि को करानेवाले 'अखण्ड' 'एकरस' आदि शब्दों को भी निष्फल समझ कर, (नदी के पार जाकर छोड़ी हुई नौका की तरह) छोड़कर चुपचाप हो जाता है, और चिरकाल तक आस्वाद लिये हुये भूमानन्द की अद्भुत आनन्द देनेवाली लोकोत्तर पराधीनता में ही मस्त होकर झूमने लगता है, उस समय अधिकारी के मन में जो निर्वातस्थान में रक्खे दीपक की तरह की आश्चर्यदायक निश्चलता उदय होती है उसे ही विद्वान् लोगों ने तृतीय 'निर्विकल्प समाधि' कहा है। मुमुक्षुओं को उचित है कि इन पूर्वोक्त छओं प्रकार की समाधियों को दीर्घकाल पर्यन्त बड़े सत्कार पूर्वक निरन्तर करते ही रहें।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥३०॥

(तत् और त्वं इन दोनों पदार्थों का शोध करते करते) जब देहा-भिमान गल जाता है जब परमात्मा का ज्ञान हो चुकता है तो मुनि का मन जहाँ जहाँ जाता है उसे वहीं वहीं समाधियाँ होने लगती हैं।

जब अन्दर 'दृग्दृश्यविवेक' कर लिया जाता है तब 'मैं' के साक्षी होने की बात समझ में आजाती है। उसका परिणाम यह होता है कि अहंकार से लेकर देहपर्यन्त पदार्थों को अपना आपा समझना छूट जाता है फिर वह यह नहीं कहता कि 'मैं कर्ता हूँ मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि। यों उसका देहाभिमान शिथिल हो जाता है। और जब कि शरीर से बाहर ब्रह्म और सृष्टि का विवेक कर लिया जाता है तब उसकी समझ में यह बात आजाती है कि नामरूपात्मक यह संसार मिथ्या है इस मिथ्या संसार का अधिष्ठान जो सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है वही सत्य है। इस प्रकार से जब परमात्मा का परिज्ञान हो चुकता है तो फिर परमात्मतत्व को जानने वाले उस मुमुक्षु का मनोमृग अन्दर वा बाहर जहाँ कहीं भी जिस किसी विषय भूमि में विचरण के लिये निकलता है, वहीं वहीं पूर्वोक्त छओं समाधियों में से कोई न कोई समाधि स्वयमेव हो ही जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि उस ज्ञानी की अपनी बोधरूपी शाण पर जो कोई दृश्य रगड़ खा जाता है वही दृश्य चेतनाकार उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। तब तो उस ज्ञानी को सब वस्तुओं में अपना ही निर्विकल्प गुप्त रूप दृष्टि गोचर होने लगता है, जिस के रहस्य को मानवी भाषा के द्वारा उद्घाटन करने का प्रयास निष्फल ही है। क्योंकि जब तक किसी पर ब्रह्मविद्या के आचार्य तथा परमात्मा का साक्षात् अनुग्रह नहीं होता अथवा यदि भाषा की उद्भ्रान्त वर्णन शैली को छोड़कर वर्णन करने लग जाँय तो अधिकारी और आचार्य शास्त्र तथा परमात्मा ये चारों

मिलकर जब तक सर्वात्मना एक नहीं हो जाते, तबतक यह परमपावन रहस्य किसी के भी हाथ नहीं लगता। यद्यपि सब लोग प्रतिदिन और प्रतिक्षण स्वयं ही इस शुभ रहस्य का अनुभव करते रहते हैं, परन्तु इन अकृतार्थ लोगों के विषय में क्या कहा जाय, किसी दरिद्र के घर में यदि महानिधि गड़ रही हो परन्तु उसका ज्ञान न होने से उसकी जैसी कुछ दीन हीन दशा बनी रहती है, वही अवस्था संसार के अज्ञानी लोगों की होती है। जैसे कि जंगली भील लोग दैववशात् हाथ लगे मोतियों को फेंक कर गुंजाओं से ही प्रसन्न रहते हैं, वैसे ही प्रतिदिन होनेवाली अपार आनन्ददायिनी निर्विकल्प अवस्थाओं को छोड़ कर ये लोग क्षुद्रानन्द की चाह में दर दर मारे फिरते हैं। ये अभागे लोग अपने आनन्दस्वरूप को ही विषयभूमियों में तलाश करते करते टूटे फूटे आनन्दकणों से ही अपने को धन्य होना समझ बैठे हैं। देखो दुग्ध-पशु के स्तनों में दुग्ध और रक्त दोनों ही भरे रहते हैं, परन्तु अभागी जोख उसमें से दुग्ध जैसी पवित्र वस्तु को छोड़ कर केवल रक्तपान ही करती है, वैसे ही अगतार्थ लोगों का ध्यान सदा नामरूप जैसी क्षणिक वस्तु पर ही रहता है। ये अकृतार्थ प्राणी सर्वत्र परिपूर्ण निर्विकल्प सच्चिदानन्द वस्तु की तो कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। जैसे कि बालक प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण की या जलाशय की ओर ध्यान नहीं देता, किन्तु उनमें पड़े प्रतिबिम्ब को ही देखता है, या जैसे कि पामर लोग इस सकल स्थूल प्रपंच के आश्रय आकाश को कभी ध्यान में भी नहीं लाते, केवल इस स्थूल प्रपंच पर ही ध्यान रखते हैं वैसे ही ये नामरूप के भक्त, स्थूल दृष्टि लोग, अपने दौर्भाग्य के कारण सकल जगत् के आधार सच्चिदानन्द जैसी पवित्र वस्तु का कभी ध्यान भी नहीं कर पाते।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥३१॥

जब कि उस परावर का दर्शन मिलता है तो हृदय की ग्रन्थि अर्थात् अहंकार टूट जाता है, सब संशय मिट जाते हैं और कर्म नष्ट हो जाते हैं।

सम्पूर्ण रज्जुसर्पों में तथा अन्धकार में प्रतीत होने वाली सब जलधाराओं में जैसे रज्जु ही रज्जु व्याप्त रहती है इसी तरह देह से बाहर सकल नामरूपात्मक पदार्थों में सच्चिदानन्दस्वरूप जो परमात्मा व्याप्त हो रहा है उसी को 'पर' कहा जाता है, इसी प्रकार देह के अन्दर अहंकार आदि दृश्यों से भिन्न मैं, मैं कहाने वाला प्रत्यक्चेतन स्वरूप साक्षी नामक जो जीवात्मा है उसको 'अवर' कहा जाता है। परन्तु यदि कोई अपनी महामहिमा के कारण 'पर' भी हो और 'अवर' भी हो तो मुनि लोग उसे 'परावर' कहते हुये गद्गद् हो जाते हैं। स्वयंप्रकाश होने से मन और वाणी के अगोचर उसी 'परावर' परमात्मा का जब कि "यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् स्युष्टे सत्या इहाशिषः।" ऋग्वेद—हे अग्ने! मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जाऊँ तब कहीं जाकर तेरे आशीर्वाद सफल हों, इस प्रकार अथवा "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वा त्वमसि" "हे देवते जो तू पर है वही मैं अवर हूँ तथा जो मैं अवर हूँ वही तू पर है" इस प्रकार व्यतिहार से हाथ पर रक्खे हुये आमले की तरह साक्षात् दर्शन मिल जाता है, तब उस साक्षात्-कारी अधिकारी की वह हृदय की ग्रन्थि—जिसके कारण चैतन्यरूप साक्षी और जडरूप अहंकार का परस्पर तादात्म्य सा हो गया था, जिसको अनिर्वचनीय माया की आवरण शक्ति ने उत्पन्न किया था, स्वयमेव खुल जाती है। उस ग्रन्थि के खुलते ही, यह ब्रह्म मेरा ही आत्मा है या नहीं, ब्रह्म होने पर भी उसके शुद्ध स्वरूप का मैंने साक्षात्कार किया या नहीं, साक्षात् कर लेने पर भी अभी मुझे कुछ और करना शेष है या नहीं, कर्तव्य शेष न रहने पर भी मुझे जीव-न्मुक्ति प्राप्त हुई या नहीं, जीवन्मुक्ति हो जाने पर भी वर्तमान

देहपात के अनन्तर मुझे विदेह मुक्ति मिलेगी या नहीं, विदेह मुक्ति मिलने पर भी कालान्तर में मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं, इत्यादि कुछ भी सन्देह शेष नहीं रह जाता। संशयनाश का बहाना मिलते ही उस ज्ञानी के कोटिसहस्र जन्मों में संचित पुण्य अपुण्य या मिश्रित सम्पूर्ण अनारब्ध कर्म, परावरदर्शनरूपी अग्नि की प्रचण्डज्वालाओं से भस्मसात् हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्म ही भोगने को शेष रहते हैं। ज्ञानी का प्रारब्ध शेष रह जाता है यह बात अज्ञानी दृष्टि के आधार से कही है गम्भीर विचार करने पर तो शरीराभिमान से रहित इस अधिकारी को जब प्रत्येक बाह्य पदार्थ में भी समाधि होने लगती है, तब प्रारब्ध कर्मों का भोग भी उसकी दृष्टि में कुछ नहीं रहता। लौकिक दृष्टि के प्रारब्ध सुख दुःख भी तो उसकी समाधिभूमि ही के अंग बन जाते हैं। उस अनुपम अनन्त तथा अपरिछिन्न अवस्था का वर्णन सान्त तथा परिछिन्न शब्दों जैसे क्षुद्रसाधनों से पूरी सफलता के साथ हो ही नहीं सकता। इस प्रकरण में कहने का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि फिर उस ज्ञानी के आरब्ध और अनारब्ध सम्पूर्ण कर्म ही क्षीण या हतवीर्य हो जाते हैं। वह तो ज्ञान होते ही मुक्त हो जाता हैं। अनेक श्रुतियों से इसी बात का अनुमोदन किया गया है "तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मुनरभव सूर्यश्च" "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "तरति शोकमात्मवित्" "अभयं वै जनक प्राप्तोसि" "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तमेव विद्वान मृत इह भवति" इसी बात को जान कर ऋषि वामदेव इस निश्चय पर पहुँचा था कि मैं ही मनु हुआ था और मैं ही सूर्य हूँ। ब्रह्म को जाने तो ब्रह्म ही हो जाय, ब्रह्मज्ञानी पुरुष 'पर' को प्राप्त कर लेता है। आत्मज्ञानी पुरुष शोकनदी को पार कर चुकता है। हे जनक, इतना जान चुकने पर अब तुम अभय पद को प्राप्त होगये हो। अरे अमरभाव तो इतना ही है जितना कि हम ऊपर बता चुके हैं। केवल

उसी को जानकर जन्म मरण के चक्कर को टाला जा सकता है। उसको इस रूप में पहचान चुकने वाला पुरुष इसी जन्म में अमर हो जाता है।

अब ग्रन्थ की समाप्ति तक यह बताया जायगा कि ऊपर कहा हुआ साक्षी ही जब उपाधि के बस में आ सा जाता है तो 'जीव' हो जाता है नहीं तो स्वभाव से तो वह 'ब्रह्म' है ही।

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः।
विज्ञेयस्त्रिविधोजीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥३२॥

'अवच्छिन्न' 'चिदाभास' तथा 'स्वप्नकल्पित' इन तीन प्रकार का जीव होता है, उनमें से केवल एक पहला (अवच्छिन्न) ही पारमार्थिक होता है।

सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म में जब अविद्या और अहंकारादि से अवच्छेद कर लिया जाता है तब वह साक्षी चैतन्य ही पहला, 'अवच्छिन्न' जीव कहाता है। चेतन के लक्षणों से हीन होने पर भी चेतन की तरह प्रतीत होने वाला, अहंकार में अन्तःकरण में अथवा लिङ्गशरीर में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वही "चिदाभास" नाम का दूसरा जीव कहाता है। स्वप्नावस्था में नर, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरों को धारण करके सम्पूर्ण दिशाओं में जो भ्रमण किया करता है वही तीसरा 'स्वप्नकल्पित' जीव कहाता है। इन तीनों जीवों में अवच्छिन्न नाम का पहला साक्षी जीव ही परमार्थभूत है, वही ब्रह्म है।

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिन् जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ॥३३॥

अवच्छेद (सम्बन्ध) तो कल्पित होता है, और अवच्छेद्य वास्तव ही होता है। उस अवच्छिन्न साक्षी में जो जीवभाव है वह तो आरोप (भ्रम) से है परन्तु उसमें ब्रह्मत्व तो स्वभाव से ही रहता है।

आकाश में जैसे तलमलिनता आदि का अध्यास हो जाता है उसी तरह, उस ब्रह्मरूप साक्षी में अविद्या और अहंकार के प्रताप से अवच्छेद (परिच्छेद) हो गया है। जभी तो सुषुप्ति काल के आने पर जब कि अहंकार का लय हो जाता है तब "मैं अविद्यावच्छिन्न हूँ, मैं अहंकारावच्छिन्न हूँ" इस प्रकार के दोनों अवच्छेदों का अभिमान नहीं रहता और तब केवल साक्षी चैतन्य ही शेष रह जाता है। अविद्या और अहंकार से परिच्छिन्न होनेवाला जो साक्षिचैतन्य है वह तो तीनों कालों, जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं, तथा जन्मादि तीनों गतियों में एक समान ही रहता है। जब कि काल अवस्था और गति आदि भी नहीं रहते तब भी वह उसी रूप में रहता है। भूगर्भ में जलती हुई अग्नि की ज्वालायें जिस प्रकार ज्वालामुखियों के द्वारा प्रकट हुआ करती हैं, इसी प्रकार उस साक्षी का चैतन्य भी इन अवस्थाओं का, इन गतियों का तथा इन कालों का बहाना ले लेकर कभी कभी क्षुद्ररूपों में प्रकट हुआ करता है। इसलिये सदा एकरस रहनेवाला वह साक्षी ही वास्तव और सत्य है। इसी से कहा जाता है कि ऐसे उस महामहिम साक्षी में चिदाभास की सहायता से, अहंकार और साक्षी का परस्पर अन्योन्याध्यास हो जाने पर ही जीवभाव का उदय हो जाता है। उस साक्षी में ब्रह्मरूपता तो स्वभाव से बनी ही रहती है, उसे किसी भी क्रिया से सिद्ध नहीं करना होता। ऐसी प्रतीति हो जाने पर ही वह बिचारा अवच्छिन्न जीव ही अनवच्छिन्न ब्रह्म हो जाता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगु र्नेतरजीवयोः ॥३४॥

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य इस अवच्छिन्न जीव की ही पूर्ण ब्रह्म के साथ एकता का प्रतिपादन करते हैं। दूसरे 'व्यावहारिक' या 'प्रातिभासिक' जीव की एकता को वे नहीं कहते।

अविद्या और अहंकार से अवच्छिन्न हो जाने के कारण ही वह परमार्थिक जीव सद्वितीय सा प्रतीत होने लगता है। अविद्या के आश्रय तथा देश कालादि से अमर्यादित उस, पूर्ण परमात्मा के साथ उस अवच्छिन्न जीव की ही एकता का निर्देश "तत्त्वमसि" 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्माब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य कर रहे हैं। अर्थात् लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर तात्पर्यरूप में उन दोनों के ऐक्य का ही बोध वे करा रहे हैं। 'चिदाभास' ओर 'स्वप्नकल्पित' जीव की ब्रह्म के साथ एकता का बोध कराने में उनका तात्पर्य नहीं है। क्योंकि वे दोनों माया के कार्य होने से अवस्तु हैं। उन दोनों के साथ वस्तुभूत ब्रह्म का योग होना असम्भव है।

ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ॥३५॥

ब्रह्म में स्थित विक्षेप और आवरणशक्ति वाली माया ने पहले तो उस ब्रह्म की अखण्डता का आवरण किया है और पीछे से उस ब्रह्म में जगत् और जीव की कल्पना कर डाली है।

सत्यादि स्वरूप वाले ब्रह्म में रहने वाली, आवरण तथा विक्षेप नामक दोनों शक्तियों वाली, वह अनिवर्चनीय माया पहले तो अपने ही आश्रयभूत ब्रह्म की अखण्डता को ढक डालती है, उसके अनन्तर अवच्छेद में आये हुये साक्षी स्वरूप उस ब्रह्म में पूर्वोक्त प्रकार से जीव और जगत् की इस अद्भुत सृष्टि को क्षणभर में रच देती है।

जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद्भोक्ताहि कर्मकृत्।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद्भूतभौतिकम् ॥३६॥

बुद्धि में स्थित जो चिदाभास है क्योंकि वही भोक्ता है और वही कर्मों का करने वाला भी है इससे उसी को 'जीव' कहते हैं। भोग्यरूपी ये सब भूतभौतिक पदार्थ 'जगत्' कहाते हैं।

अर्थ और काम के उपयोगी कृषि व्यापार, युद्ध तथा अध्ययनादि करनेवाला, धर्मोपयोगी वापी, कूप, तडाग तथा यज्ञादि करनेवाला और मोक्ष के साधन श्रवणमननादि को करने वाला तथा अपने उपार्जन किये हुए ऐहिक और आमुष्मिक फलों को भोगने वाला जो बुद्धिस्थ चिदाभास है वही तो ब्रह्माश्रित माया से कल्पित किया हुआ 'जीव' है भोग्यरूप को धारण करनेवाले ये सब भूतभौतिक पदार्थ ही 'जगत्' कहाते हैं।

अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम् ।
व्यवहारे स्थितं, तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ॥३७॥

अनादिकाल से लेकर मोक्ष होने तक ये दोनों जीव और जगत् व्यवहार में बने ही रहते हैं। इसीलिये ये दोनों 'व्यावहारिक' कहे जाते हैं।

अनादिकाल से लेकर (जब तक कि वर्तमान देह का नाश होकर विदेह मुक्तिकी प्राप्ति हो ऐसे) मोक्ष की प्राप्ति होने से प्रथम प्रथम व्यवहारकालपर्यन्त ये (जीव और जगत्) दोनों ही बने रहते हैं। इसी लिये इन दोनों को 'व्यावहारिक' ही कहा जाता है। इनको 'पारमार्थिक' या 'प्रतिभासिक' कहना युक्तिसङ्गत नहीं होता।

जीव की माया जो निद्रा है वह भी नये जीव और नये जगत् बना लेती है फिर ब्रह्म की माया जगत् बना लेती हो इसमें क्या आश्चर्य है ? यह अगले प्रकरण में समझाया गया है।

चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृतिरूपिणी ।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत् ॥३८॥

चिदाभास (व्यावहारिक जीव) में रहने वाली विक्षेपरूप और आवरणरूप जो निद्रारूपी अविद्या है वह भी पहले (व्यवहारकाल के) 'जीव' का और पहले 'जगत्' का आवरण करके दूसरे नये ही 'जीव' और नये ही 'जगत्' की कल्पना कर लेती है।

व्यावहारिक जीव कहो या चिदाभास कहो उसमें रहनेवाली जो, आवरण और विक्षेप इन दो शक्तियों से युक्त, अज्ञानरूप यह प्रसिद्ध नींद है, यह अपनी आवरणशक्ति के प्रभाव से यह करती है कि जाग्रत काल के व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् को ढक देती है, और फिर वही नींद अपनी दूसरी विक्षेप शक्ति के प्रभाव से (जाग्रतकाल के व्यावहारिक जीव और जगत् से नये ही तरह के) प्रातिभासिक जीव और जगत् की कल्पना कर लेती है। जैसे निद्रा चिदाभास के आश्रय से रहती है, इसी तरह माया भी ब्रह्म के आश्रय से रहती है। जैसे कि निद्रा की आवरण और विक्षेप नामकी दो शक्तियें हैं इसी तरह माया में भी ये दोनों शक्तियें विद्यमान हैं। जिस प्रकार कि सुपने के जीव और जगत् निद्रा से उत्पन्न होते हैं उसी तरह व्यावहारिक जीव और जगत् भी माया से ही उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार निद्रावच्छिन्न चिदाभास का स्वरूप सुपने के प्रतिभासिक जीव और सुपने के जगत् की कल्पना का अधिष्ठान है इसी प्रकार मायावच्छिन्न साक्षी नामक ब्रह्म का स्वरूप भी व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् की कल्पना का अधिष्ठान है। निद्रा के इस सर्वतोभद्र दृष्टान्त से पैंतीसवे श्लोक में वर्णित ब्रह्म में रहनेवाली माया की कल्पना युक्तियुक्त हो जाती है। इसी दृष्टान्त के रहते हुए इस प्रकार के संशय करने का कोई प्रसंग ही नहीं रहता।

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके।
न हि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः ॥३९॥

सुपने के वे जीव और जगत् केवल प्रतीतिकाल में ही रहने से 'प्रातिभासिक' कहाते हैं। क्योंकि एक स्वप्न से जागा हुआ पुरुष जब दूसरा स्वप्न देखता है तो पहले सुपने के प्रतिभासिक जीव या जगत् नहीं रहते।

सुपने के ये जीव और जगत्, केवल प्रतीतिकाल में ही रहते हैं इस कारण 'प्रातिभासिक' कहे जाते हैं। क्योंकि पहले दिन स्वप्न देख कर जागने के बाद जब दूसरे दिन दूसरा नया ही स्वप्न देखा जाता है, तब पहले दिन के सुपने के कल्पित जीव और जगत् नहीं रहते। दूसरे दिन ही क्यों, उसी स्वप्न में थोड़ी ही देर में वे नष्ट हो जाते हैं। उनकी जगह उसी स्वप्न में कुछ और ही सृष्टि बनकर तैयार हो जाती है। स्वप्नान्तर में तो निश्चितरूप से ही उनमें से कोई भी नहीं रहता। किन्तु उनसे भिन्न दूसरे ही जीव और दूसरा ही जगत् उत्पन्न हो जाते हैं यों प्रत्येक स्वप्न में नये नये ही जीव और जगत् उत्पन्न होते रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें 'प्रातिभासिक' कहा जाता है। (व्यवहार में न आ सकने के कारण) जब कि उनको 'व्यावहारिक' भी नहीं कहा जा सकता तो 'पारमार्थिक' कहना तो सर्वथा असङ्गत हो जाता है। केवल प्रतीतिकाल में ही रहने से स्वप्नकाल के जीव और जगत् को 'मिथ्या' कहा जाता है। इसी प्रकार व्यावहारिक जीव और जगत् भी अनादिकाल से लेकर मोक्ष से प्रथम ही प्रथम विद्यमान रहते हैं, मोक्ष के अनन्तर इनमें से कोई भी नहीं रहता, इसीलिये इनको भी 'मिथ्या' या 'बाधित' कहा जाता है। यह भी समझ लेना चाहिये।

प्रातिभासिकजीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम्।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः ॥४०॥

प्रातिभासिक जीव अपने उस प्रातिभासिक जगत् को सच्चा ही माने रहता है। परन्तु व्यावहारिक जीव तो उस प्रातिभासिक जगत् को 'मिथ्या' समझ लेता है।

स्वप्नकाल का वह प्रातिभासिक जीव सुपना देखते समय स्वप्न-कल्पित उस प्रातिभासिक जगत् को 'पारमार्थिक' ही माने रहता है। क्योंकि जब तक वह प्रातिभासिक जीव बना रहता है तब तक वह

प्रातिभासिक जगत् भी तो बना ही रहता है। परन्तु दूसरा जाग्रत्काल का व्यावहारिक जीव तो स्वप्नकाल के उन दोनों को 'मिथ्या' समझ लेता है, वह उन्हें वास्तव कभी नहीं मानता। क्योंकि स्वप्न देखने से प्रथम तथा स्वप्न देखने के पश्चात् जाग जाने पर वे प्रातिभासिक जीव या जगत् दोनों ही नहीं रहते।

व्यावहारिकजीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम्।
सत्यं प्रत्येति, मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः ॥४१॥

इसी प्रकार व्यावहारिक जीव भी अपने उस व्यावहारिक जगत् को 'सत्य' ही माना करता है। परन्तु पारमार्थिक जीव तो उस व्यावहारिक जगत् को भी 'मिथ्या' ही समझ लेता है।

ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार वह व्यावहारिक जीव भी (माया-कल्पित) उस व्यावहारिक जगत् को सत्य ही समझे रहता है उसको उस के मिथ्या होने का कभी सन्देह भी नहीं होता। क्योंकि व्यावहारिक जीव के साथ साथ वह व्यावहारिक जगत् भी बना ही रहता है। परन्तु उससे दूसरा वह पारमार्थिक जीव तो उस व्यावहारिक जगत् तथा उस जगत् के द्रष्टा चिदाभास दोनों को ही 'मिथ्या' समझ लेता है। क्योंकि नित्य प्रलय कहाने वाली सुषुप्ति अवस्था के आने पर, वे दोनों ही कुछ काल के लिये नहीं रहते। यह बात नित्य ही सर्वसाधारण के अनुभव में आती है। (वर्तमानदेहराहित्यरूपी) विदेहमुक्ति के प्राप्त होने पर तो उनकी प्रतीति सर्वथा ही बन्द हो जाती है। श्रुति और आचार्य के अनुभव के आधार से जब किसी को अपनी स्वभाव सिद्ध ब्रह्मात्मता का साक्षात् होता है और भाविदेह न मिलनेवाली जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है, तब तो उन व्यावहारिक जीव और जगत् की प्रतीति कभी कभी (केवल भोगकाल में ही) होने लगती है। परन्तु वह अधिकारी श्रुति युक्ति तथा अनुभव के आधार पर उनकी

सत्ता के आत्यन्तिक नाश होजाने को श्रद्धा से मान लेता है। इसलिये कहते हैं कि प्रातिभासिक जीव और जगत् जैसे मिथ्या है उसी तरह व्यावहारिक जीव और जगत् भी मिथ्या रूप ही हैं।

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम् ।
प्रत्येति वीक्ष्यते नान्य द्वीक्षते त्वनृतात्मना ॥४२॥

पारमार्थिक जीव तो ब्रह्म के साथ एकता को ही 'पारमार्थिक' मानता है। वह और किसी को देखता ही नहीं। यदि कभी देखता भी है तो मिथ्यारूप से ही देखा करता है।

पारमार्थिक जीव तो विदेहमुक्ति के मिलने तक ब्रह्मैक्य को ही अपना पारमार्थिक स्वरूप समझ लेता है। अर्थात् वह समस्त भेदों से हीन बन्धमोक्षादि व्यवहारों से ऊपर उठे हुये सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी को ही अपना रूप माने रहता है। उसे तो और कुछ भी नहीं दीखता। यदि कभी (प्रारब्धवश भोगदायी कर्मों के उदय होने पर) उस ब्रह्मवित् की अपने स्वरूप से च्युति हो जाय और वह चिदाभास के आकार को धारण कर भी ले और व्यावहारिक जीव जगदादि को देखने भी लग पड़े तो भी वह उनको मिथ्या ही समझे रहता है। उसको इनमें कभी भी सत्यबुद्धि नहीं होती।

माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरंगके ।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा ॥४३॥
साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके ।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ॥४४॥

जैसे लोक में 'मधुरता' 'द्रव' (पतलापन) तथा 'शीतलता' आदि जल के धर्म तरंग में आते हैं और फिर तरंग के द्वारा फेन में भी चले जाते हैं, इसी प्रकार साक्षी में रहने वाले 'सत्' 'चित्' 'आनन्द' भी

तादात्म्य सम्बन्ध से व्यावहारिक जीव में आते हैं और फिर उसके द्वारा प्रातिभासिक जीव में भी पहुँच जाते हैं। वायु के चलने से जब कि जल में कोई तरंग उत्पन्न होता है तो (जल का ही विवर्त होने के कारण जल में ही रहनवाले) उस तरंग में जल की ही मधुरता जल की ही द्रवता तथा जल का ही शैत्य आ जाता है। फिर जब कि तरंग में भी कोई फेन उत्पन्न होजाता है (तो तरंग का विवर्त होने के कारण तरंग में रहने वाले) फेन (झाग) में तरंग की ही मधुरता द्रवता तथा शैत्य आजाते हैं। 'यह तरंग है, यह फेन है' ऐसा भेदव्यवहार होने पर भी जल तरंग तथा फेन इन तीनों का माधुर्य द्रव तथा शैत्य के अतिरिक्त और कुछ रूप ही नहीं है। पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर रूप में केवल विवर्त नाम का परिणाम होता जाता है। इसीलिये कहते हैं कि वे पूर्व पूर्व से भिन्न नहीं होते। उपर्युक्त, दृष्टान्त के अनुसार ब्रह्मरूप साक्षी में रहने वाले, सत्यज्ञान तथा आनन्द नाम के धर्म (तरंग में जल के गुणों के सम्बन्ध की तरह या फेन में तरंग के गुणों के सम्बन्ध की तरह) प्रथम तो व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् में अनुगत होते हैं, उसके पश्चात् उसी परिपाटी से प्रातिभासिक जीव और प्रातिभासिक जगत् में भी पहुँच जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तरंग के समान जो चिदाभास है उसमें रहनेवाले, सत् चित् आनन्द ही फेन के समान प्रातिभासिक जीव और जगत् में पहुँच जाते हैं। इसी लिये जिस प्रकार कि— प्रातिभासिक जीव और जगत् चिदाभास से भिन्न नहीं होते, अथवा जिस प्रकार (जल के माधुर्यादिगुण ही तरंग में आने के कारण) वह तरंग जल से कुछ भिन्न नहीं होता, ठीक इसी प्रकार जल के समान साक्षी में रहनेवाले, माधुर्यादिगुणों के समान सच्चिदानन्द गुण ही तरंग के समान चिदाभास और व्यावहारिक जगत् में सर्वत्र अनुगत हो रहे हैं। यही कारण है कि वह चिदाभास और जगत्, ब्रह्म नाम के साक्षी से भिन्न नहीं हुआ करते।

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरंगके ।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥४५॥

जैसे लोक में जब फेन का लय हो जाता है तो उसके द्रव आदि धर्म तरंग में वापिस चले जाते हैं परन्तु जब कि तरंग का भी लय होने लगता है तो वे जल में ही रह जाते हैं जैसे कि वे तरंग के बनने से पहले रह रहे थे ।

तरंग में से उत्पन्न हुआ फेन जब नष्ट होने लगता है तो उसकी मधुरता द्रवता तथा शैत्य (उसके अधिष्ठान) तरंग में ही लौट जाते हैं । इसी प्रकार जब कि (जल में उत्पन्न हुआ) तरंग नष्ट होने लगता है, तब वह भी अपने माधुर्यादि गुणों को जल में ही छोड़ जाता है । जल में से उत्पन्न होने, जल में ही निवास करने और नष्ट होने के समय जल में ही विलीन हो जाने के कारण ये तरंग और फेन किसी प्रकार भी जल से भिन्न नहीं हो सकते ।

प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके ।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ४६॥

इसी प्रकार प्रातिभासिक जीव का लय होने पर (उसके) सत्, चित्, आनन्द धर्म व्यावहारिक जीव में चले जाते हैं । परन्तु जब कि उस व्यावहारिक जीव का भी लय होने लगता है तो उसके सत् चित् आनन्द नाम के धर्म साक्षी में ही पर्य्यवसन्न हो जाते हैं ।

ऊपर कहे दृष्टान्त के अनुसार जब कि सुपने के प्रातिभासिक जीव और जगत् विलीन हो जाते हैं, तो उनमें के सत् चित् तथा आनन्द जाग्रत् संसार के संस्कारों वाले चिदाभास में ही (जिसको कि व्यावहारिक जीव भी कहते हैं) विलीन हो जाते हैं । इसी प्रकार जब कि उस चिदाभास और उसके साथी इस व्यावहारिक जगत् का भी, नित्य नैमित्तिक प्राकृतिक या आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है तो उसके

सच्चिदानन्द धर्म भी (सकल संसार के मूलाधिष्ठान) साक्षी में ही पर्य-वसित हो जाते हैं—अर्थात् निरन्वय विनाश कहीं भी देखने में नहीं आता। सर्वानुगत सच्चिदानन्द धर्म सर्वथा नष्ट कभी नहीं होते। उस मूलाधिष्ठान साक्षी का कोई दूसरा अधिष्ठान न होने से यह लयपरम्परा यहीं समाप्त हो जाती है। वह साक्षी तीनों कालों में सद्रूप से ही विराज-मान रहता है। ये जीव जगदादि तो न सृष्टि के पूर्व ही थे और न प्रलय हो जाने के अनन्तर ही शेष रहते हैं। इसलिये सत् से उत्पन्न होने, सत् में ही जीवन धारण करने, और अन्त में सत् में ही विलीन हो जाने के कारण वास्तविक सत् नहीं कहे जा सकते। ब्रह्म से अभिन्न साक्षी ही इनका पारमार्थिक स्वरूप है—अर्थात् उससे भिन्न ये व्याव-हारिक जीव जगदादि कुछ हैं ही नहीं।

भय आदि से घबराथी हुई प्रजा जिस प्रकार राजा की शरण में जाती है और त्राण पाजाती है, इसी प्रकार प्रातिभासिक जीव को भी जब सुपने में अचानक चोर या व्याघ्रादि दीख पड़ते हैं तो वह भी भयभीत और शरणार्थी होकर निद्रा का आश्रय जो चिदाभास है, उसकी शरण में जाना चाहता है, तब जागरण नाम की प्रबोध अवस्था आजाती है, उस समय वह प्रातिभासिक जीव, सुपने के कल्पित भय आदि से त्राण पा जाता है। सुपने का जो प्रातिभासिक जीव था उसको अपने वास्तविक स्वरूप चिदाभास का ज्ञान नहीं हुआ था इस कारण उसकी दृष्टि में चाहे समस्त प्रातिभासिक संसार बना भी रहो तो भी चोर या व्याघ्र आदि को देखकर जो प्रातिभासिक जीव अकस्मात् जागा है उस की दृष्टि में से आवरण और विक्षेप नाम की दोनों शक्तियों वाली निद्रा-रूपी माया समूल नष्ट हो चुकी है, इस कारण वह (निद्रा का आश्रय या निद्रावच्छिन्न इन सब विशेषों से रहित होकर एक रूप रह गये हुए) चिदाभास में ही—भृगुपतनादि* करने वालों की तरह अपना नाश

*असाध्य रोग वाले या घोर पाप करनेवाले पहाड़ आदि से कूद कर

करके भी, चिदाभास के निर्भय और उत्तम पद को पाने की इच्छा से सुपन के कल्पित प्रातिभासिक भोग्यरूप समस्त संसार को भी अपने ही साथ लेकर आत्यन्तिक नाश को प्राप्त हो जाता है। इस विचारे स्वप्नकल्पित प्रातिभासिक जीव का तो यही एक परम पुरुषार्थ है कि उस का जो अपना वास्तविक रूप चिदाभास पद है जागने के द्वारा उसको प्राप्त कर लिया जाय। इस पद को पाने में जागरण नाम के प्रबोध के अतिरिक्त उसे किसी भी और साधन का अनुष्ठान करना नहीं पड़ता। ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार, जिन दूसरे व्यावहारिक जीवों को अभी तक अपने स्वरूप सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मत्व का बोध नहीं हो पाया है उन व्यावहारिक जीवों की दृष्टि में चाहे सकल संसार पहले की तरह बना ही रहो, परन्तु जब कोई व्यावहारिक जीव इस संसारसागर की दुःखदायी लहरों से अत्यन्त दुःखी हो जाता है और उस (चिदाभास या व्यावहारिक जीव) के कोटि जन्मों के पुण्य फलद्रूपता को धारण कर लेते हैं और अकस्मात् ही चोर या व्याघ्र आदि के सम्मुख आजाने के समान श्रुति और आचार्य कृपालु हो जाते हैं और वह चोर या व्याघ्र आदि के दर्शन के समान श्रवण और मननादि कर डालता है तब उस माया-वच्छिन्न का पूर्ण ब्रह्म के साथ एकतारूपी अलौकिक जागरण हो जाता है। उस समय उसकी अपनी दृष्टि में दोनों शक्तियोंवाली माया अत्यन्त नाश को प्राप्त हो जाती है। इस कारण वह माया का आश्रय या माया से अवच्छिन्न इत्यादि सभी विभागों से रहित हो जानेवाले सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मात्मा में, देवत्व की कामना से अग्नि में प्रवेश कर जाने वालों की तरह—साक्षिमात्र शेष रह जाने की अलौकिक इच्छा से प्रेरित होकर ब्रह्मदर्शन होने से लेकर विदेहमुक्ति होने तक, ज्ञान की बढ़ती हुई अवस्था के अनुसार धीरे धीरे करके सदा के लिये सच्चिदानन्दरूप

या जल आदि में डूब कर देह त्याग करके अपने रोग या पाप का प्रायश्चित्त करते हैं। यही भृगुपतन कहाता है।

परब्रह्म में विलीन होजाता है। परब्रह्म में विलीन होते हुए इस व्यावहारिक जीव के साथ ही इस व्यावहारिक समस्त प्रपंच का भी विलय हो जाता है।

इस व्यावहारिक जीव का तो यही परम पुरुषार्थ कहाता है कि वह अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप साक्षी के स्वरूप को ज्ञान के द्वारा प्राप्त कर ले। इस परमपावन पद को पाने के लिये ब्रह्मविद्या नाम के प्रबोध के अतिरिक्त और किसी भी साधन का अनुष्ठान करना शेष नहीं रहता। "देवत्वकामा अग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा, साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वांछति। यावत्स्वदेहदाहः स्यान्नरत्वं नैव मुंचति, यावदारब्धदेहः स्यान्नाभासत्वविमोचनम्।" जिस प्रकार देवत्व की कामना करने वाले याज्ञिक लोग अपने इस मर्त्य देह से छुटकारा पाने के लिये, जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, इसी प्रकार वह चिदाभास या व्यावहारिक जीव भी, साक्षिमात्र शेष रह जाने की लोकोत्तर इच्छा के वशीभूत होकर, अपने संकुचित (चिदाभास) स्वरूप को नष्ट कर देना चाहता है। परन्तु जिस प्रकार जब तक देवत्व की कामना वाले का यह मर्त्यशरीर पूरा पूरा जल नहीं चुकता तब तक उसका मनुष्यत्व बना ही रहता है। इसी प्रकार जब तक यह प्रारब्ध देह बना रहता है, तब तक आभासपने से उसका पूरा पूरा छुटकारा नहीं हो पाता। सिद्धान्त यह है कि इस चिदाभास को उत्पन्न हुई भ्रान्ति या विवेक नित्यमुक्त साक्षी में अध्यस्त ही रहते हैं, वस्तुतः नहीं होते। क्योंकि भ्रान्ति या विवेक भी तो भोग के ही अवान्तर भेद हैं। इसीलिये ये दोनों भी भोक्ता चिदाभास में ही रहते हैं। साक्षिता का भी यही हाल है वह भी उसमें वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह साक्षिता भी साक्ष्य चिदाभास की अपेक्षा से ही तो होगी। जब कि वह साक्ष्य चिदाभास ही वास्तविक नहीं है तो फिर साक्षिता को ही वास्तविक क्योंकर कहा जाय। वह साक्षिता तो निस्तरंग महोदधि के समान जो चिदम्बुधि है उसको अज्ञानियों को

समझाने के लिये साधन के रूप में कल्पित कर ली गई है। तात्पर्य यही हुआ कि व्यावहारिक दृष्टि के अनुसार तो वह माया का आश्रय भी है, माया और अहंकार से अवच्छिन्न भी है, नामरूप के साथ तादात्म्य हो जाने पर भोग्य भी है, अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर चिदाभास-स्वरूप धारण कर लेने के कारण कर्त्ताभोक्तारूपी संसारी भी बन गया है, परन्तु ज्यों ही उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है त्यों ही वह "तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति" इत्यादि श्रुतियों के कहने के अनुसार ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला भी हो जाता है, ब्रह्माभ्यास को बढ़ा कर जीवन्मुक्ति का महालाभ भी कर लेता है और विदेहमुक्ति के परमपावन पद को भी पा लेता है। परन्तु जब कि परमार्थ का विचार किया जाता है तो केवल एक ही निश्चय हाथ लगता है कि—न बन्धन है और न मोक्ष है, न साधन है और न साधक है, अखण्ड अद्वैत चैतन्य ही सर्वथा भासित हो रहा है, वही अविद्या है और वही विद्या है, वही बन्धन है वही मोक्ष है और वही मोक्ष का साधन भी है—अर्थात् वह तो मायाश्रयत्वादि से लेकर विदेहमुक्तिपर्यन्त सकल व्यवहारों से बाहर रहता है। वह तो प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय अवाङ्मनसगोचर तत्व है। उपर्युक्त कृत्रिम बद्धमुक्तव्यवस्था का सहारा लेकर ही मोक्षशास्त्रों ने सफलता का लाभ किया है, जो कुछ ज्ञेय है वह इतना ही है और कुछ नहीं है।

'वाक्यसुधा' नाम के इस प्रकरणग्रन्थ का तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का पिण्डीकृत महातात्पर्य भी यही है। इसे उत्तम रीति से जान लेने पर फिर कभी शोक करने का प्रसङ्ग ही नहीं आवेगा।

इति श्रीमद्भारतीतीर्थमुनिविरचिता
वाक्यसुधा सम्पूर्णा

ओम्

योगतारावली

(शंकराचार्य)

जिनके पाप अभी शेष हैं, परन्तु सुदैव से राजयोग में रुचि होगयी है उनको 'लययोग' तथा 'हठयोग' में से राजयोग की सिद्धि के लिये कितनी सहायता ले लेनी चाहिये, सो इस ग्रन्थ में देखने को मिलेगा।

राजयोग कर सकने के लिये जिस शांत वातावरण की आवश्यकता है इस ग्रन्थ में लिखित अभ्यास करने से वैसा वायुमण्डल तैयार किया जा सकता है।

ओम्

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता

योगतारावली

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे,
सन्दर्शितस्वात्मसुखावबोधे ।
जनस्य ये जाङ्गलिकायमाने,
संसारहालाहलमोहशान्त्यै ॥१॥

गुरु के जिन चरणकमलों ने ज्ञानसुखस्वरूप आत्मा का दर्शन कराया है, तथा जिन्होंने संसार को बनानेवाले मेरे विषरूपी मोह को शांत करने में विषवैद्य का काम किया है, उन चरणकमलों को मैं प्रणाम करता हूँ।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥२॥

यद्यपि सदाशिव के कहे हुए लय के सवा लाख साधन लोक में हैं, परन्तु मैं तो उन सब में से एक नादानुसन्धानसमाधि ही को अत्यन्त मान के योग्य समझता हूँ।

सरेचपूरै रनिलस्य कुम्भैः,
सर्वासु नाडीषु विशोधितासु ।
अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारै-
रन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः ॥३॥

रेचक, पूरक और कुम्भक नाम के प्राणायामों से जब सब नाडियें शुद्ध हो जाती हैं तब अनाहतनाद शरीर के अन्दर अनेक प्रकारों से सदा ही सुनाई पड़ने लगता है ।

नादानुसन्धान ! नमोस्तु तुभ्यं
त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।
भवत्प्रसादा त्पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥४॥

हे नादानुसन्धान ! तुझको मेरा बार बार नमस्कार हो, क्योंकि मैं तुम्हें तत्त्वपद की प्राप्ति का एक उत्तम साधन समझ गया हूँ। तेरा अनुग्रह होने पर मेरा मन प्राण को भी अपने साथ लेकर विष्णुपद (ब्रह्मरन्ध्र) में लीन हो जाता है ।

जालन्धरोड्याणनमूलबन्धान्,
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान् ।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने,
बन्धः कुतो दारुणकालपाशात् ॥५॥

जालन्धर, उड्यान तथा मूलबन्ध* ये तीनों बन्ध क्रम से कण्ठ,

---

*मूलबन्ध—सिद्धासन लगाकर गुदा को सिकोड़कर अपानवायु को ऊपर को खैंचे रहो। यह मूलबन्ध कहाता है, गुदा का बारबार तथा अनवरत संकोच ही इस मूलबन्ध का प्रधान अंग है। इसके अभ्यास से अपान और प्राणवायु का ऐक्य हो जाता है ।

जालन्धर—ठोढ़ी को कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जमाकर छाती को ज़ोर से दबाना चाहिये, कि कण्ठमणि का दीखना बन्द होजाय, इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं, इससे मृत्यु का क्षय होजाता है। छः मास तक अभ्यास करने से इसकी सिद्धि होजाती है।

उडियान—नाभि को पीठ की तरफ़ को सिकोड़कर कि पेट भीतर

उदर तथा गुदा के मूल में होते हैं, इन तीनों वन्धों के सिद्ध होजाने पर दारुण कालपाश तक का वन्धन नहीं रह जाता।

ओड्याणजालन्धरमूलबन्धै,
रुन्निद्रिताया मुरगाङ्गनायाम्।
प्रत्यङ्मुखत्वा त्प्रविशन्सुषुम्नां,
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः ॥६॥

उड्यान, जालन्धर और मूलबन्ध इनके करने से जबकि कुण्डलिनी जाग जाती है तो प्राण (पर कुछ ऐसा अद्भुत प्रभाव होता है कि वह) प्रत्यङ्मुख होजाने के कारण सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है और आना जाना छोड़ देता है अर्थात् वाम दक्षिण नासिकावाले अपने स्वाभाविक मार्ग को त्याग देता है।

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैः
राकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः।
सन्तापिताच्चन्द्रमसः पतन्तीं,
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः ॥७॥

ऊपर को उठाये हुए आधार से उत्पन्न हुई गरमी की लपटों से तथा अपानवायु के निरन्तर आकुंचन करते रहने से जब चन्द्रमण्डल तपता है तब वहाँ से जो अमृत की धार टपकती है उसे तो कोई धन्य ही पान करता है।

जबकि मूलबन्ध के द्वारा अपानवायु वंद हो जाती है, जब उसका अधोमार्ग वंद हो जाता है और वह भीतर की तरफ़ संकुचित होकर

घुस जाय नाभिं को ऊपर उठाया जाय कि हृदयकमल हृदय में खिल उठे इसको 'उडियान बन्ध' कहते हैं यह बन्ध नाभि से नीचे स्वाधिष्ठान-चक्र बस्तिस्थान के ऊपर बनता है। सिद्ध होने पर यह बन्ध मुक्ति के मार्ग को सरल कर देता है इससे भी मृत्यु का क्षय होता है।

घुटने लगती है, उसके घुटते ही मूलाधार में एक प्रकार की गरमी पैदा होजाती है। इस क्रिया के साथ ही जबकि वह अभ्यासी अपानवायु को भी निरन्तर ऊपर को आकर्षण करता रहता है तो अग्नि और वायु का मेल होते ही उस मूलाधार में से अग्नि की ज्वालायें उठने लगती हैं (जोकि एक प्रकार का गरम वायु ही होती हैं जिन्हें आध्यात्मिक भाषा में सूर्य भी कहा जासकता है) जोकि बढ़ते बढ़ते सीधी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती है तब तो ब्रह्मरन्ध्रनिवासी चन्द्रमा (जोकि एक प्रकार का शीतल वायु है) में एक विचित्र सन्ताप पहुँचता है। इन सूर्य, चन्द्र नाम के उष्ण तथा शीतल वायुओं का परस्पर मेल होते ही उस चन्द्रमण्डल में से अमृतविन्दु टपकने लगता है इस अमृतविन्दु को पीने का सौभाग्य तो किसी धन्य पुरुष के ही हाथ लगता है।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां,
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं,
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥८॥

तीनों बन्धों के अभ्यास के पकने पर पैदा होनेवाली विषयनदी के झरने को सुखाती हुई केवल कुम्भक नाम की विद्या का भजन करता हूँ जिसमें रेचक पूरक नहीं होते।

अनाहते चेतसि सावधानै-
रभ्यासशूरै रनुभूयमाना।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा,
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ॥९॥

अनाहतचित्त में सावधान रहनेवाले अभ्यासी लोग ही जिसका अनुभव ले सकते हैं जो श्वास और मन के प्रचार को रोक देती है ऐसी कुम्भकश्री बड़ी ही शोभित होती है।

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः,
सम्भाव्यते केवल कुम्भ एव।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ,
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥१०॥

हठयोग में भले ही हज़ारों कुम्भक हों परन्तु यह केवल कुम्भक ही सर्वोत्कृष्ट कुम्भक है। इस उत्तम कुम्भक के सिद्ध होजाने पर तो प्राण के प्राकृत या वैकृत (स्वभाव से या यत्न से होनेवाले) दोनों प्रकार के रेचक, पूरक स्वयमेव बन्द हो जाते हैं।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे,
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन।
प्राणानिलो भानुशशाङ्कनाड्यौ,
विहायसद्यो विलयं प्रयाति ॥११॥

जब त्रिकूट (नामक भ्रुकुटी के मध्यस्थान) में अन्तरंग (मन) को निश्चल (करके खड़ा) कर दिया जाता है तथा जब केवल कुम्भक से मन को ख (अर्थात् आत्मा) में स्तम्भित कर दिया जाता है तब (प्राण-वायु पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि) वह प्राणवायु दक्षिण और वाम नासिका में रहनेवाली, पिङ्गला और इडा नाम की सूर्य और चन्द्र नाडियों को त्यागकर (बिल का मार्ग बंद होजाने पर अन्दर ही अन्दर घुटकर मरे हुए बिलवासी जीवों की तरह) तत्काल ही विलीन होजाता है।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन,
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं,
विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥१२॥

जब प्राणवायु को केवल कुम्भक से प्रत्याहृत किया (सकोड़ा) जाता

है और जबकि वह प्राणवायु उद्बुद्ध जगदम्बा कुण्डलिनी (शक्ति के तपी हुई भट्टी के समान तेजोमय अंगों में होकर निकलता अर्थात् उस) के उपभोग से भी बच रहता है तो उस समय (गरमी के कारण अतिसूक्ष्म हुआ) वह प्राणवायु, (अपने दोनों स्वाभाविक मार्गों [वामदाक्षिण नासिका] के रुक जाने के कारण—दोनों मार्गों के रुक जाने पर किसी तीसरे मार्ग को ढूँढ लेनेवाले सर्पादि की तरह—तीसरा मार्ग ढूँढने के लिये व्याकुल होजाता है। इतने ही में उसे एक सुषुम्नानामक सूक्ष्ममार्ग दिखाई दे जाता है। बस शनैः शनैः) उसी पश्चिम मार्ग (मेरुदण्ड—पीठ की हड्डी में रहनेवाली सुषुम्ना) के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में (जाकर) विलीन होजाता है।

वहां तो चन्द्रामृत भरा रहता है। यह गरम वायु वहां जाकर वहां की लोकोत्तर शीतलता का स्पर्श पाते ही एक दम विलीन हो जाता है। देखते हैं कि ठण्डे प्रदेश में पहुंचते ही वायु स्तब्ध हो जाता है।

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां,
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यो,
मरुल्लयः कोपि महामतीनाम् ॥१३॥

जब कि इन निरंकुश श्वासगतियों को केवल कुम्भकों के द्वारा रोका जाता है, तो महामति पुरुषों का प्राणवायु कुछ ऐसे अद्भुत प्रकार से विलीन होता है, कि फिर इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापार भी स्वभाव से बन्द हो जाते हैं।

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वायुरोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा,
समेधमाने सति राजयोगे ॥१४॥

जबकि यह राजयोग अपने पूर्ण यौवन के उल्लास में आता है, तो साधक को न तो दृष्टि के कोई विशेष लक्ष्य ही रखने पड़ते हैं, न चित्त को रोकना ही होता है, न देशकाल की अनुकूलता ही मिलानी पड़ती है, न प्राणायाम की आवश्यकता ही रह जाती है, और न धारणा तथा ध्यान का परिश्रम ही शेष रह जाता है ।

अशेषदृश्योज्झितदृङ्मयाना-
मवस्थितानामिह राजयोगे ।
न जागरो नापि सुषुप्तिभावो,
न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ॥१५॥

जो लोग सब दृश्यों से रहित केवल दृग्रूप होकर इस राजयोग में तन्मय होजाते हैं, उन पुरुषों को (उनके कोटिसहस्र जन्मों के पुण्यों के प्रताप से) कुछ ऐसी अद्भुत अवस्था हाथ लगती है कि फिर उसे न जागरण ही कहा जासकता है, और न सुषुप्ति ही, न उसे जीवन ही कह सकते हैं और न मरण ही कहते बनता है ।

वह साधक विषयों को नहीं देखता इसी लिये उसे जागरण नहीं कह सकते । उस के शरीर को अहङ्कार धारण किये रहता है तथा उसे आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव रहता है इसलिये उस अवस्था को सुषुप्ति भी नहीं कह सकते। भोगोन्मुख कर्मों को भोगने के लिये शरीर का निवास जीवन कहाता है, भोगों को न भोगने के कारण उसे जीवन भी नहीं कह सकते । देहवियोग होने पर शरीर की विस्मृति मृत्यु कहाती है, देहवियोग न होने के कारण उसे मरण भी नहीं कहा जासकता। इस अद्भुत अवस्था का पूरा पूरा वर्णन तो किया ही नहीं जासकता ।

अहंममत्वाद्यपहाय सर्वं,
श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम् ।

न द्रष्टृता नास्ति च दृश्यभावः
सा जृम्भते केवल संविदेव ॥१६॥

(यह सम्पूर्ण द्रष्टृदृश्यभाव अहन्ता और ममता की पूंजी से ही चल रहा है) जबकि कोई अधिकारी इन सब अहन्ता और ममता आदि को छोड़कर राजयोग के साधन में दृढ निश्चय से तत्पर हो जाता है, तो यह द्रष्टृदृश्यभाव स्वयमेव बन्द हो जाता है और तब जो केवल संवित् नाम का तत्व है वह जगमगा उठता है।

नेत्रे ययोन्मेषनिमेषशून्ये,
वायु र्यया वर्जितरेचपूरः।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं,
मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् ॥१७॥

जिस उन्मनी अवस्था के प्रताप से, नेत्र निमेष (बन्द होना) और उन्मेष (खुलना) को बन्द करदेते (और जैसे के तैसे जहां के तहां चित्रलिखित [तस्वीर उतारे हुए] की तरह स्तब्ध हो जाते) हैं, जिसके प्रताप से प्राण (अपनी चंचलता को छोड़ बैठता तथा) रेचक पूरक से रहित हो जाता है और मन भी उन सङ्कल्पविकल्पों से रहित हो जाता है (जब कि मन प्राण तथा इन्द्रिय जैसी जड़ वस्तुओं पर भी उसका इतना शान्त प्रभाव होता है, कि वे भी [अपनी अपनी विषमता को छोड़ कर] समता को प्राप्त हो जाते हैं, तो यह सब देख कर मेरा जी चाहता है कि) वैसी उन्मनी अवस्था मुझमें सदा ही रहने लगे।

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण,
श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः

निवातदीपा इव निश्चलाङ्गा,
मनोन्मनीमग्नधियो भवन्ति ॥ १८ ॥

चित्त और इन्द्रियों को चिरकाल तक रोकते रोकते जब कि अन्त में श्वास का प्रचार (आना जाना) भी बन्द हो जाता है* तब ये योगी लोग वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक की तरह निश्चलशरीर हो जाते हैं और उनकी बुद्धियां मनोन्मनी अवस्था में डूब जाती हैं।

उन्मन्यवस्थाधिगमाय विद्व-
न्नुपायमेकं तव निर्दिशामः ।
पश्यन्नुदासीनतया प्रपञ्चं,
सङ्कल्प मुन्मूलय सावधानः ॥१९॥

हे विद्वन्! इस उन्मनी अवस्था को पाने के लिये हम तुम को एक उपाय बताते हैं, कि तुम इस सकल प्रपञ्च को उदासीन होकर देखा करो और बड़ी सावधानी से सब सङ्कल्पों को समूल उखाड़ कर फेंक दो। (बस इसी से यह उन्मनी अवस्था हाथ आजायगी)।

प्रसह्य सङ्कल्पपरम्पराणां,
सम्भेदने सन्ततसावधानम्।

---

*जब कभी कोई अत्यन्त प्रसन्नता या अत्यन्त शोक की बात सुनते हैं और मन अवाक् रह जाता है तो कभी कभी बड़ी देर में एकाध लम्बा श्वास आता है। जिसका अभिप्राय यह है कि मन रुकने पर प्राण अपने आप ही खड़ा हो जाता है। इसीसे प्राण के सर्वथा रुक जाने का भी अनुमान बुद्धिमानों को कर लेना चाहिये। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचाराग्नि से श्वास भी पतला होते होते अन्त में नष्ट होजाता है जैसे कि अल्पजलाशय ग्रीष्मकाल में सूखते सूखते अन्त में नष्ट हो जाते हैं।

आलम्बनाशादपचीयमानं,
शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः ॥२०॥

संकल्पों को हठात् नष्ट करने में निरन्तर सावधान रहनेवाला मन अपने आलम्बन के नष्ट होने से घटता घटता अन्त में धीरे धीरे शान्त ही होजाता है ।

जब तुम्हारा चित्त बड़ी तत्परता के साथ उद्योग करेगा तो अनादि काल से सञ्चित सङ्कल्पों के अनिवार्य बन्धन को भी सहज में काट सकेगा। विषयरूपी आलम्बन (भोजन) के न मिलने से उस चित्त के उपवास पर उपवास होने लगेंगे । इस प्रकार भोजनाभाव से धीरे धीरे सूक्ष्म होते होते अन्त में यह चित्त स्वयमेव सर्वथा शान्त हो जायगा ।

निश्वासलोपै र्निभृतैः शरीरै-
र्नेत्राम्बुजै रर्धनिमीलितैश्च ।
आविर्भवन्ती ममनस्कमुद्रा-
मालोकयामो मुनिपुङ्गवानाम् ॥२१॥

हमने मुनिश्रेष्ठों में प्रकट होनेवाली इस अमनस्कमुद्रा को अपनी आँखों देखा है कि उन्हें श्वास नहीं आता उनका शरीर निश्चेष्ट होता है उनके नेत्रकमल अधखुली अवस्था में पहुँच जाते हैं ।

जबकि श्वास का आना जाना सर्वथा बन्द हो जाय, शरीर (पत्थर के समान) निश्चेष्ट हो रहे और नेत्रकमल अर्धोन्मीलित (अधखुली) अवस्था में पहुँच जायँ (अर्थात् नेत्रों में स्वभावतः घूर्णन रहने लगे) तो समझ लेना चाहिये कि अब 'उन्मनी' अवस्था प्राप्त होगयी ।

अमी यमीन्द्राः सहजामनस्का-
दहंममत्वे शिथिलायमाने ।

मनोतिगं मारुतवृत्तिशून्यं,
गच्छन्ति भावं गगनावशेषम् ॥२२॥

स्वाभाविक उन्मनी से अहंता और ममता के ढीला पड़ जाने पर ये यमीन्द्र लोग, मन की पहुँच से बाहर तथा वायु की गति से रहित, गगनावशेष अवस्था को पाजाते हैं।

(अभ्यास का परिपाक होने पर) जब यह उन्मनी अवस्था स्वाभाविकरूप धारण कर लेती है तो उस अभ्यासी कं (शरीरादि में) अहन्ता और (गेहादि में) ममता स्वभाव से ही ढीली पड़ जाती हैं। तब उस यमीन्द्र को ऐसा अद्भुत ब्रह्मभाव प्राप्त होता है कि (ज्ञान के साधनों में सर्वोत्तम साधन) मन भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाता, प्राण तो बिचारा बन्द ही हो जाता है।

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि,
प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम्।
संविन्मयीं तां सहजामनस्कां,
कदा गमिष्यामि गतान्यभावः ॥२३॥

मैं और सब बातें भूलकर सब इन्द्रियों को रोक देनेवाली, परमात्मयोग को प्रवृत्त करनेवाली उस ज्ञानमयी स्वाभाविक अवस्था को कब प्राप्त हो सकूँगा!

जिस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर, सकल इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारों को छोड़ बैठती हैं, और जबकि स्वभाव से ही परमात्मा के साथ योग हो जाता है, संसार के सम्पूर्ण फल्गु (नीरस—फोक) विषयों की भावना को (सदा के लिये) त्यागकर ऐसी उस ज्ञानरूप स्वाभाविक उन्मनी अवस्था को मैं कब प्राप्त हो सकूँगा!

प्रत्यग्विमर्शातिशयेन पुंसां,
प्राचीनगन्धेषु पलायितेषु।

प्रादुर्भवेत्काचिदजाड्यनिद्रा,
प्रपञ्चचिन्तां परिवर्जयन्ती ॥२४॥

आत्मविचार की अधिकता हो जाने पर जबकि प्राचीन गन्ध (वासनायें) भाग जाते हैं तब पुरुषों को एक ऐसी होश की नींद आती है कि वह प्रपंच की चिन्ता को छुड़ा देती है।

जब आत्मतत्व का विचार एक परिमित मात्रा को लांघकर बढ़ने लगता है अर्थात् जबकि आत्मविचार की अति होने लगती है और अब तक सधूम रहनेवाली वह आत्मज्ञानाग्नि सुलगने लगती है, तो अनादि-काल की उपचित वासनायें, पेड़ के अग्निगर्भ कोटर को छोड़कर भागते हुए पक्षियों की तरह उस ज्ञानी को छोड़कर भाग जाती हैं। तब संसार की चिन्ताओं को भुलाने वाली एक ऐसी अद्भुत नींद आती है कि वह ज्ञानी उस नींद के आने पर संज्ञाविहीन तो नहीं होजाता परन्तु उसे संसार का कुछ भान भी नहीं रहता (यों उट्टङ्कण [अटकल] मात्र से ही उस अवस्था का वर्णन शब्दों से किया जा सकता है। अन्यथा शब्दों में इतना सामर्थ्य ही कहां हैं कि उस आश्चर्य अवस्था का वर्णन वे कर सकें। इसीलिये उसको अजाड्यनिद्रा [होश की नींद] कहा जाता है। और कोई उपयुक्त साधन न होने से इन टूटे फूटे यौगिक शब्दों से ही उस अवस्था के रूप को इशारे से साधक को समझना पड़ता है)।

विच्छिन्नसङ्कल्पविकल्पमूले,
निःशेषनिर्मूलितकर्मजाले ।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा,
सा जृम्भते योगिनि योगनिद्रा ॥२५॥

संकल्प विकल्पों के मूल (संस्कारों) को भी छिन्न भिन्न कर डालने वाले, कर्मों के जाल को पूर्णरूप से उखाड़फेंकने वाले योगी में निरन्तर अभ्यास करते रहने के कारण अतीव मनोहारिणी योगनिद्रा जाग उठती है।

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतल्पे,
विश्वाद्यवस्थात्रितयोपरिस्थे।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं,
निद्रां सखे निविंश निर्विकल्पाम् ॥२६॥

हे मित्र ! विश्व आदि तीनों ही अवस्थाओं से ऊपर रहनेवाले तुरीय नाम के पलंग पर विश्राम लेकर, किसी ज्ञानमयी निर्विकल्प निद्रा में सदा के लिये प्रवेश करजा।

विषय तथा विषयी आकार में अन्तःकरण का परिणाम होते रहना भी कुछ कम दुःखदायक नहीं होता। यह बात अभ्यासक्रम के बढ़ने पर स्वयमेव अनुभव में आती है परन्तु जब तक विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीनों अवस्थायें बनी हैं तब तक वैसा परिणाम होना किसी से रोका नहीं जा सकता। इसलिये यदि वास्तव आनन्द की अभिलाषा है तो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ इन तीनों अवस्थाओं से परे (बाहर) रहनेवाली तुरीयरूपी अतिविस्तीर्ण अपरिच्छिन्न कोमल शय्या पर लेटकर हे मित्र! तू तो सदा के लिये ज्ञानरूप निर्विकल्प निद्रा में प्रवेश करजा। (विश्व आदि अवस्थाओं में मिलनेवाले सुखकणों की ओर को कभी भी अपनी दृष्टि मत फेरना। यहाँ के तो सब ही सुख ऐसे हैं जैसे कि अपने ही अंगों को काटकर अपनी ही भूख मिटायी जाती हो। यहाँ के एक सुख को प्राप्त करने का मतलब ही यह होता है कि दूसरे तीन दुःखों को अपने पास रहने का निमन्त्रण दे दिया जाय। यहाँ जो भी कोई विषयसुख कमाया जाता है वह सब का सब अपने आत्मसुख को बेचकर या भुलाकर ही कमाया जाता है इसलिये कहते हैं कि इस बखेड़े को छोड़कर निर्विकल्प नींद लेने लगो)।

प्रकाशमाने परमात्मभानौ,
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते।

अहो बुधा निर्मलदृष्टयोपि,
किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत्समग्रम् ॥२७॥

जब परमात्मारूपी (अनोखे) सूर्य का प्रकाश होता है और अविद्या-रूपी समस्त अन्धकार नष्ट होजाता है तो उस समय का एक आश्चर्य देखो कि फिर अत्यन्त निर्मल दृष्टि वाले भी इन विद्वानों को (मूर्खों का) यह सम्पूर्ण जगत् कुछ नहीं दीखता।

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां समाधौ,
श्रीशैलशृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये।
गात्रं यदा मम लताः परिवेष्टयन्ति,
कर्णे यदा विरचयन्ति खगाश्च नीडान्॥२८॥

श्रीशैल पर्वत की गुफाओं में बैठकर समाधि करने पर ऊपर बताये हुए मनोलय वाली सिद्धि को मैं कब प्राप्त होऊँगा, जबकि (शरीर का विस्मरण होजाने के कारण) मेरे शरीर को तो लतायें लपेट लेंगी और मेरे कानों में पक्षी अपने अपने घोंसले बना लेंगे।

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ।
कुचकलशयुगे वा कृष्णसारेक्षणानाम्॥
चरतु जडमते वा सज्जनानां मते वा।
मतिकृतगुणदोषा मा विभुं न स्पृशन्ति॥२९॥

(अब जब कि मुझे आत्मसाक्षात्कार हो गया है तो) यह मेरी बुद्धि चाहे तो निर्विकल्प समाधि में विचरे या मृगनयनियों के स्तनों में रमण किया करे, मूर्खों की बातों में फंसी रहे या सज्जनों के मत का विचार करती रहे, मुझ व्यापक कूटस्थ आत्मदेव को इस बुद्धि के कमाये हुए गुण या दोष कभी भी स्पर्श नहीं कर सकते।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ योगतारावली समाप्ता